कुछ चुने हुए उत्तमोत्तम उपन्यास

अंतिम चरण	७ ॥)	निरंजन शर्मा	२॥)
अप्सरा	३॥)	नूरजहाँ	५)
अलका	३॥)	पुष्यमित्र	४॥।)
अमृतकन्या	५)	पथ-निर्देश	५)
अमिताभ	५॥)	प्रश्न	३॥)
उदयन	४॥)	पतन	३॥)
एक सूत्र	४)	पाप की ओर	३)
कर्म-मार्ग	४)	प्रतिशोध	२॥।)
कुंडली-चक्र	३)	प्रतिमा	२॥।)
केन	२)	प्रेम की भेंट	३॥।)
क़ैदी	२॥)	विगत और वर्तमान	१॥)
कोतवाल की करामात	२)	बिदा	६)
कोहनूर कंपनी में डाका	२॥)	बिराटा की पद्मिनी	६)
खवास का ब्याह	२।)	भीष्म-प्रतिज्ञा	२॥)
कंट्रोल	२)	भाग्य	२)
गढ़-कुंडार	६)	मरघट	४।)
चंद्रगुप्त विक्रमादित्य	५)	विजया	४)
उदयन	४॥)	विजय	८)
जूनिया	४)	विक्रमादित्य	५)
ससुराल	२॥।)	सूर्यलोक	८)
मा	६)	स्वतंत्र भारत	५)
तारिका	३॥।)	सेब का वृक्ष	२।)
नंगे पाँव	२)	संगम	४॥)
नवाब लटकन	२)		

चंद्रगुप्त मौर्य

[मौलिक ऐतिहासिक उपन्यास]

लेखक
रावराजा साहित्य-वाचस्पति डॉक्टर श्यामबिहारी मिश्र
एम० ए०, डी० लिट्०, (आनरिस काज़ा A. U.)
रायबहादुर साहित्य-वाचस्पति डॉक्टर शुकदेवविहारी मिश्र डी० लिट्०,
(आनरिस काज़ा B.H.U.) (मिश्रबंधु)

——:×:——

मिलने का पता—
गंगा-ग्रंथागार
३६, गौतम बुद्ध-मार्ग
लखनऊ

द्वितीयावृत्ति

प्रकाशक
श्रीदुलारेलाल
अध्यक्ष गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय
लखनऊ

अन्य प्राप्ति-स्थान—

१. भारती (भाषा)-भवन चर्खेवालाँ, दिल्ली
२. प्रयाग-ग्रंथागार, ४०, क्रास्थवेट रोड, प्रयाग
३. राष्ट्रीय प्रकाशन-मंडल, मछुआ-टोली, पटना

नोट—हमारी सब पुस्तकें इनके अलावा हिंदुस्थान-भर के सब प्रधान बुकसेलरों के यहाँ मिलती हैं। जिन बुकसेलरों के यहाँ न मिलें, उनका नाम-पता हमें लिखें।

मुद्रक
नेशनल प्रिंटिंग वर्क्स
१०, दरियागंज
दिल्ली

प्रकाशक
श्रीदुलारेलाल
अध्यक्ष गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय
लखनऊ

अन्य प्राप्ति-स्थान—

१. भारती (भाषा)-भवन चर्खेवालाँ, दिल्ली
२. प्रयाग-ग्रंथागार, ४०, क्रास्थवेट रोड, प्रयाग
३. राष्ट्रीय प्रकाशन-मंडल, मछुआ-टोली, पटना

नोट—हमारी सब पुस्तकें इनके अलावा हिंदुस्थान-भर के सब प्रधान बुकसेलरों के यहाँ मिलती हैं। जिन बुकसेलरों के यहाँ न मिलें, उनका नाम-पता हमें लिखें।

मुद्रक
नेशनल प्रिंटिंग वर्क्स
१०, दरियागंज
दिल्ली

भूमिका

हमारे उपन्यासों में पहला वीरमणि १९१३ ई० में बना था, दूसरा चंद्रगुप्त विक्रमादित्य १९४२ ई० में, तीसरा पुष्यमित्र १९४३ में, चौथा विक्रमादित्य १९४४ में। विक्रमादित्य-उपन्यास हममें से शुकदेवबिहारी मिश्र और हमारे भतीजे प्रतापनारायण मिश्र की सम्मिलित कृति है। शेष सब उपन्यास हम दोनो भाइयों के लिखे हैं।

यह हमारा पाँचवाँ उपन्यास चंद्रगुप्त मौर्य २० जून, १९४५ को प्रारंभ होकर २५ जुलाई, १९४५ को समाप्त हुआ। चंद्रगुप्त मौर्य ऐतिहासिकों द्वारा भारत के पहले सम्राट् माने जाते हैं। मौर्य-शासन ३२३ बी० सी० से प्रारंभ होकर १८५ बी० सी० पर्यंत चला। इसके संस्थापक यही चंद्रगुप्त मौर्य थे। इनकी उत्पत्ति के विषय में कुछ संदिग्ध विचार भी हैं। अतएव पहले उन्हीं पर कथन किया जाता है।

मत्स्य-पुराण का कहना है कि महानंदिन का पुत्र महापद्मनंद शूद्रा में उत्पन्न, सब क्षत्रियों का अंत करनेवाला कलिकांश होगा। उसके समय से राजा लोग 'शूद्रयोनयः' होंगे। यह महापद्म एकराट् तथा एकच्छत्र राजा होगा। ८८ वर्ष राज्य करेगा। इसके सुकल्यादि आठ पुत्र १२ वर्ष राज्य करेंगे। कौटिल्य इनसे पृथ्वी का उद्धार करेगा। विष्णु-पुराण के अनुसार नवनंदों को कौटिल्य नष्ट करेगा। तब मौर्यों का राज्य होगा। चंद्रगुप्त को कौटिल्य राजा बनाएगा। दस मौर्य राजे १३७ वर्ष राज्य करेंगे। वायु-पुराण विष्णुपुराण से मिलता है। मौर्य सम्राटों के नाम थे—चंद्रगुप्त, बिंदुसार, अशोकवर्द्धन, सुयश, दशरथ, संयुत, शालिशूक, सोमशर्मन, शतधन्वन और बृहद्रथ। इस अंतिम नरेश को मारकर पुष्यमित्र शुंग सम्राट् हुआ। जैन-ग्रंथों के अनुसार महापद्मनंद सम्राट् महानंदिन की दुराचारिणी रानी का एक नाई से उत्पन्न पुत्र था। ग्रीक लेखक स्ट्रैबो का भी यही कथन है। महानंदिन नंद-वंश का

अंतिम मागध नरेश था। महापद्म नापित-पुत्र होकर भी कहता अपने को नंदवंशी ही था, जिससे यह नव (नवीन) नंद-वंश कहलाया। नवनंदों में महापद्मनंद, सत्यसेन, उग्रसेन और धननंद के नाम पुराणों में मिलते हैं। धननंद सिकंदर के समय राजा था। पुराणों में उग्रसेन लुटेरों का नेता है। यूनानी लेखकों के अनुसार धननंद के दल में २,००० रथ, २०,००० घोड़े, ४,००० हाथी तथा दो लाख पदाती थे। कथा-सरित्सागर नंद-वंश का मंत्री वररुचि को वतलाता है। एक जैन-ग्रंथ के अनुसार वररुचि ही कात्यायन थे। यह कथन जैनियों के परिशिष्ट-पर्व में है, जो १४वीं शताब्दी का ग्रंथ है। विशाखदत्त कात्यायन को राक्षस-मंत्री निराधार कहते हैं। वह स्वयं चौथी ईसवी शताब्दी में थे। वास्तव में राक्षस सुबुद्धि शर्मा का उपनाम था। यह कात्यायन के मित्र थे। कात्यायन-कृत जो ग्रंथ हमने उपन्यास में लिखे हैं, वे ऐतिहासिक हैं, तथा चंद्रगुप्त के समय के जिन ग्रंथों का कथन हुआ है, वे भी ऐसे ही हैं।

कथा-सरित्सागर और पुराणों में चंद्रगुप्त मौर्य मगध-वंशी क्षत्रिय था। कुछ शिलालेखों में यह वंश मांधाता से संबद्ध है। मोरि क्षत्रिय अग्नि-वंशी थे। मोरि-वंश का ही राज्य समाप्त करके बाप्पा रावल मेवाड़ के नरेश हुए थे। मौर शब्द श्रेष्ठता का द्योतक है। वह मोरि से मिलता है। जैनों के अनुसार चंद्रगुप्त मयूरपोषक के राजा का दौहित्र था। यह कथन परिशिष्ट-पर्व में है। मुरा नाइन से जो मौर्यों का संबंध लगाया जाता है, वह निराधार है। मौर्य शब्द मुरा से नहीं बनता। व्याकरणानुसार मुरा से मौरेय हो सकता है, न कि मौर्य। लंका का प्राचीन ग्रंथ महावंश मौर्यों को शाक्य वंशी कहता है, तथा चंद्रगुप्त के पिता को हिमालय के एक राज्य का भूपाल बतलाता है। 'महा परि निब्बान सुत्त' में मौर्य पिप्पली-कानन के शासक छठी शताब्दी बी० सी० में थे। यह स्थान वर्तमान ज़िला बस्ती में था। ग्यारहवीं शताब्दी ईसवी में यहाँ का शासक गोविंदराज था। स्वयं चाणक्य चंद्रगुप्त को अभिजात (उच्चकुलोत्पन्न) नरेंद्र-चंद्र कहते हैं। अशोक ने एक बार कहा था कि "मैं

क्षत्रिय होकर प्याज़ कैसे खाऊँ ?" अशोक के पिता बिंदुसार ने अपने को मूर्धाभिषिक्त क्षत्रिय भूपाल कहा है । यह कथा दिव्यावदान में है । वह बहुत सुगम संस्कृत में होने से नीचे उद्धृत की जाती है । कथा अशोक का मातृत्व स्थापित करने के कारण उद्धरणीय है—

"पाटलिपुत्रे नगरे बिन्दुसारो नाम राजा राज्यं कारयति । बिन्दुसारस्य राज्ञः पुत्रो जातः । तस्य सुसीम इति नामधेयं कृतम् । तेन च समयेन चम्पायां नगर्यां अन्यतमो ब्राह्मणः । तस्य दुहिता जाता, अतिरूपा, दर्शनीया, प्रसादिका, जनपदकल्याणी (सारे जनपद में श्रेष्ठतम सुंदरी) । सा नैमित्तिकैर्व्याकृता । अस्या दारिकाया राजा भर्ता भविष्यति । द्वे पुत्ररत्ने जनयिष्यति । एकश्चतुर्भागचक्रवर्ती भविष्यति । द्वितीयः प्रव्रजित्वा सिद्धव्रतो भविष्यति । श्रुत्वा च ब्राह्मणस्य रोमहर्षो जातः । सम्पत्तिकामो लोकः । स तां दुहितरं ग्रहाय पाटलिपुत्रं गतः । तेन सा सर्वालंकारैर्विभूषयित्वा राज्ञो बिंदुसारस्य भार्यार्थमनुप्रदत्ता । इयं हि देवकन्या धन्या प्रशस्ता चेति । यावत् राज्ञा बिंदुसारेणान्तःपुरमुपेशिता । अंतःपुरिकानां बुद्धिरुत्पन्ना—इयं अतिरूपा प्रसादिका जनपदकल्याणी यदि राज्ञा सार्धं परिचारयिष्यति अस्माकं भूयः चक्षुःसंप्रेक्षणमपि न करिष्यति । ताभिस्सा नापितकर्म शिक्षायिता । सा राज्ञः केशश्मश्रुं प्रसाधयती यावत् सुशिक्षिता संवृत्ता । यदा आरभते राज्ञः केशश्मश्रुं प्रसाधयितुं तदा राज्ञा शेते । यावत् राज्ञा प्रातेन वरेश प्रवारिता किं त्वं वरं इच्छसीति । तयाभिहितम्—देवेन मे सह समागमः स्यात् । राजाह—त्वं नापिनी अहं राजा क्षत्रियो मूर्द्धाभिषिक्तः कथं मया सार्ध समागमो भविष्यति । सा कथयति—देव ! नाहं नापिनी अपि ब्राह्मणस्याहं दुहिता । तेन देवस्य पत्न्यर्थं दत्ता । राजा कथयति—केन त्वं नापितकर्म शिक्षायिता । सा कथयति अंतःपुरिकाभिः । राजाह नो भूयस्त्वया नापितकर्म कर्त्तव्यं यावद् राजाग्रमहिषी स्थापिता । तया सार्धं क्रीडति रमते परिचारयति। सा आपन्नसत्त्वा संवृत्ता—तस्मात् पुत्रो जातः । अशोकः तु विगतशोकःअस्य दारकस्य जातस्याशोकास्मि संवृत्ता तस्याशोक इति नाम कृतम्
द्वितीयः पुत्रो जातः विगते शोके जातस्तस्य विगताशोक इति नाम वृ

है तो यह संस्कृत-कथन बहुत सुगम, तो भी प्रयोजन कहा जाता है। एक ब्राह्मण ने एक ज्योतिर्विद् से अपनी कन्या के एक चक्रवर्ती तथा द्वितीय सिद्धव्रत पुत्र होने की भविष्यद्वाणी सुनकर स्त्री बनाने के लिये उसे बिंदुसार को दे दिया। शायद राजा उसे भूल गया, और उसके अति रूपवती होने के कारण रानी ने उसे नाइन का काम सिखलाया। उसने सोते-ही-सोते राजा की दाढ़ी बना दी, जिससे प्रसन्न होकर उसने वर माँगने को कहा। उसके समागम का वरदान माँगने पर राजाने कहा—"तुम नायन हो, तथा मैं मूर्द्धाभिषिक्त क्षत्रिय भूपाल, सो ऐसा क्योंकर हो सकता है ?" जब उसने अपने को ब्राह्मणी बतलाया, तथा रानी द्वारा नापित कार्य सिखलाया जाना कहा, तब उसके रूप-गुणों से प्रसन्न होकर राजा ने उसे अग्रमहिषी बनाया। उससे अपने अशोक होने के कारण पहले पुत्र का नाम अशोक रक्खा, और दूसरे का विगताशोक।

इस प्रकार चंद्रगुप्त मौर्य शुद्ध क्षत्रिय-कुलोत्पन्न प्रमाणित होता है। अब उस काल का मौर्यों से संबद्ध कुछ ऐतिहासिक विवरण दिया जाता है।

उत्तरीय-भारत गौतम बुद्ध के समय से कुछ पहले से १६ महाजनपदों में विभक्त था। नंद-वंश मगध में शिशुनाग-वंश कहलाता था। शैशुनागों ने कुछ महाजनपद समाप्त करके अपने राज्य में मिला लिए। महापद्मनंद के समय में पौरव, ऐक्ष्वाकु, पांचाल, हैहय, कलिंग, अश्मक, कौरव, मैथिल, शूरसेन और वीतिहोत्र-नामक महाजनपद थे, जिन सबको पराजित करके उसने अपने राज्य में मिला लिया। इस प्रकार उसका राज्य रावी-नदी के पूर्वी किनारे तक फैल गया। समझ पड़ता है कि कलिंग का महाराज्य कालिंग महाजनपद से पृथक् था, क्योंकि कलिंग को अशोक ने आगे चलकर जीता। शैशुनाग नंदिवर्द्धन ने एक नहर कलिंग तक बनवाई थी, जिसकी मरम्मत अशोक के कुछ पीछे कलिंगपति खारवेल ने अपने राज्य के पाँचवें वर्ष में की। नवनंद धन-लोभी कहे गए हैं। उन्होंने पत्थर, पेड़, चमड़ा और गोंद पर कर लगाया।

उस काल वाराणसी, पाटलिपुत्र और तक्षशिला में प्रसिद्ध विश्व-विद्यालय थे। तक्षशिलावाले की विशेष प्रसिद्धि थी। चंद्रगुप्त के पठन-काल में वहाँ १०३ राजपुत्र पढ़ते थे। अलेक्ज़ेंडर (अलिकसुंदर, सिकंदर) मैसिडान का शासक था। उसका हमारा वर्णन ऐतिहासिक है। चंद्र-गुप्त को उससे भेंट हुई थी, और वह इनसे अप्रसन्न होकर इन्हें बंदी बनाना चाहता था, किंतु यह निकल आए। चंद्रगुप्त के तीन रानियाँ पुराणानुसार थीं, अर्थात् पोरस-पुत्री दुर्धरा, धननंद-कन्या तथा सेल्यूकस-तनया हेलेन। सुनंदा नाम-भर कल्पित है। उसका अविवाहिता रहना इतिहास-विरुद्ध तथा काल्पनिक है। चंद्रगुप्त की जीतें ऐतिहासिक हैं। उनका यवनों के यहाँ विद्या-लाभ करना न्यूनाधिक ऐतिहासिक है। वहाँ वह थोड़े ही दिन रहे। सबलनंद तथा धननंद के पुत्रवाले कथन कल्पित हैं। पैर टेढ़े होने से विष्णु-गुप्त चाणक्य कौटिल्य कहलाते थे। इनका राजा पर्वतक से मेल था। इन्हें भूमि-कोष मिला था। कौटिल्य-कृत अर्थ-शास्त्र-ग्रंथ अब तक बड़ा मान्य समझा जाता है। पाणिनि, वर्ष, उपवर्ष और पिंगल ऐतिहासिक पुरुष हैं। पाटलिपुत्र में शास्त्रार्थ हुआ करते थे, जिनमें वर्ष, पाणिनि, कात्या-यन आदि ने समय-समय पर भाग लिए। चंद्रगुप्त के जो सहायक लिखे गए हैं, वे ऐतिहासिक हैं। पाटलिपुत्र, समाचार-प्रेरकों, कुश्तियों आदि के जो कथन हुए हैं, वे भी ऐतिहासिक हैं। मेगास्थिनीज़ चंद्रगुप्त की सभा में सेल्यूकस का राजप्रतिनिधि था। उसने लिखा है कि यूनानियों से विद्रोह करनेवालों का नेता चंद्रगुप्त था। इनके राज्य के जो चार प्रबंधार्थ प्रांत लिखे गए हैं, वे ठीक हैं, तथा सेल्यूकस से प्रांत पाना भी सत्य है। इनकी शरीर-रक्षिकाएँ यवनी सशस्त्र स्त्रियाँ थीं। इनके मंत्री-परिषत् में १८ मंत्री थे। व्रज चरागाह को कहते थे। जज को धर्मस्थ कहते थे। न्यायालय में राजा, जनपदसंधि, द्रोणमुख, संग्रहण, ग्राम-संघ, पंचायत आदि थे। धर्मस्थीय, कटंकशोधन, प्रदेष्टा आदि भी न्यायकर्ता थे। गुप्तचरों के काम में घोड़े और कपोतों से भी साहाय्य लिया जाता था। इतिहासानुसार चंद्रगुप्त ने पहले नंदों को गिराया, और तब यूनानियों से उनका पंजाब जीता। मुद्रा-

राक्षस के मलयकेतु ऐतिहासिक न थे। चंद्रगुप्त के समय की बनी हुई जूनागढ़वाली झील की मरम्मत अशोक के समय ईरानी तुशास्य ने की। दूसरी मरम्मत स्कंदगुप्त ने की, जो चक्रपालित द्वारा हुई। वह झील पलाशिनी-नदी बाँधकर बनी थी। सेल्यूकस का अभिषेक ३०६ बी० सी० में हुआ, तथा मृत्यु २८० बी० सी० में। मेगास्थिनीज़ सेल्यूकस का राजदूत चंद्रगुप्त के यहाँ था, तथा डाइमेकस बिंदुसार के यहाँ। महर्षि पतंजलि ने मौर्यों को सोने का लालची तथा मूर्ति-प्रचारक माना है। ईजिप्ट-नरेश टालोमी फ़िलेडेल्फ़स ने २८५ बी० सी० में डायोनिशियस-नामक राजदूत भेजा'। डॉ० तारानाथ कहते हैं कि चाणक्य की सहायता से बिंदुसार ने १६ राज्यों को जीतकर मौर्य-साम्राज्य को एक समुद्र से दूसरे समुद्र तक फैला दिया। २७२ बी० सी० में २६ वर्ष राज्य करने के पीछे बिंदुसार ने शरीर त्यागा। एक जैन-ग्रंथ का कहना है कि भद्रबाहु-नामक एक जैन आचार्य के उपदेश से चंद्रगुप्त अंत में जैन-भिक्षु होकर तथा राज्य त्यागकर १२ वर्ष माइसोर-प्रांत में रहे। यह कथन इतिहास द्वारा समर्थित नहीं। हमने इसे माना तो नहीं है, किंतु औपन्यासिक रीति से सुनंदा के उपदेश से इनका गृहत्यागी होकर वानप्रस्थ तथा संन्यासी होना लिखा है। सुनंदा द्वारा दुर्धरा तथा हेलेन के संसर्ग औपन्यासिक-मात्र हैं। इतिहास अशोकात्मज कुणाल के तीन पुत्र मानता है, अर्थात् दशरथ, संप्रति और विगताशोक। बिंदुसार को अमित्रघात कहते थे। सेल्यूकस के पुत्र ऐंटिओकस ने बिंदुसार से मित्रता का व्यवहार रक्खा। इतिहास हेलेन का विवाह ३०५ बी० सी० के निकट मानता है। हमने उसे ३२० बी० सी० के निकट कहा है, जिसमें उनका वैवाहिक जीवन बहुत ही कम न हो।

बिंदुसार के पीछे राजा ज्येष्ठ पुत्र सुसीम को होना था, किंतु हुए अशोक। युद्धादि हुए अवश्य होंगे, किंतु उनका निश्चित कथन नहीं है, केवल इतना ज्ञात है कि इनका अभिषेक चार वर्ष पीछे २६८ बी० सी० में हुआ। जब तक चाणक्य जीवित रहे, तब तक यह साम्राज्य बहुत उन्नतिशील रहा। उनका देहांत कब हुआ, सो पता नहीं। २६१ बी० सी० तक अशोक का शासन

भी सबल रहा, और इन्होंने कलिंग जीता। अनंतर आपके द्वारा बौद्ध धर्म स्वीकार होने के कारण राज्य-प्रबंध अत्यंत दया-पूर्ण होकर शिथिल हो गया। फल यह हुआ कि यद्यपि इनका धार्मिक प्रभाव लंका, मध्य-एशिया आदि में फैला, तथापि राजबल ढीला पड़ गया, जिससे यवनों ने मथुरा-पर्यंत देश को स्ववश कर लिया। अनंतर मौर्य साम्राज्य का प्रभाव दिनोंदिन पतनोन्मुख ही रहा, यहाँ तक कि १९० से १८५ बी० सी० तक जब डिमिट्रियस यवन तथा खारवेल के प्रभाव से मौर्य साम्राज्य ध्वस्त ही होता दिखाई दिया, तब महासेनापति पुष्यमित्र ने बृहद्रथ सम्राट् का वध करके उपर्युक्त दोनो शत्रुओं से भारत का संरक्षण किया। इन्हीं के पुरोहित महर्षि पतंजलि थे, जिन्होंने मौर्यों की कुछ निंदा भी की है। मौर्य सम्राज्य के समय भारत की उन्नति अच्छी हुई थी। यद्यपि पाश्चात्त्य लेखकों ने सिकंदरी धावे का कथन इस प्रकार किया है, मानो उसने भारत को जीता हो, तथापि वास्तविक बात यह थी कि उस जगद्विजयी की भारत में पराजय हुई, और शरीर भी छूटा। इसका विवरण ग्रंथ में यथातथ्य रूप से है। यथासाध्य हमने इस उपन्यास को ऐतिहासिक रूप के अनुसार लिखा है, केवल चटपटापन लाने को एकआध स्थान पर इतिहास से बहुत थोड़ा वैपरीत्य है, तथा जिन स्थानों पर इतिहास मौन है, वहाँ उसके समर्थक अथवा केवल औपन्यासिक वर्णन आए हैं।

चौथी शताब्दी ईसवी के विशाखदत्त ने मुद्राराक्षस-नामक एक संस्कृत-नाटक रचा, जिसमें स्वभावशः बहुतेरे अनैतिहासिक कथन हैं। हमने उन्हें छोड़ दिया है, और जो लिए हैं, वे भी दूसरे रूप में। उस ग्रंथ में कात्यायन (राक्षस-मंत्री) की मौखिक प्रशंसा तो बहुतेरी है, किंतु बचा वह चाणक्य का एक भी वार न पाए, और बहुतेरी ऐसी भूलें कर गए, जो एक साधारण राजमंत्री तक न करेगा। ऐसे स्थानों पर हमने स्वभावशः वर्णन बदल दिए हैं। यथासाध्य दोनो पक्षों के नेताओं—चाणक्य तथा कात्यायन—का मान हमने रक्खा है। मुद्राराक्षस में चंद्रगुप्त एक बहुत अयोग्य राजा दिखलाया गया है, जो बात इतिहास-विरुद्ध भी है। हमारा

विचार यह है कि पर-पक्षवाले भी हैं अंत में भारतीय ही, और उनके आचरण बहुत गिराने में अपने ही देशी भाइयों की निंदा होती है। अतएव किसी का शील-गुण अनुचितप्रकारेण गिराना हम बेजा समझते हैं।

इस उपन्यास का ऐतिहासिक मसाला हमने श्रीयुत कृष्णदत्तजी वाजपेयी एम्० ए० की कृपा से पाया है, जिन्हें अनेकानेक धन्यवाद अर्पित हैं। अपने उपन्यासों में वीरमणि में तो हमने बहुत कथनोपकथन रक्खे न थे, किंतु शेष चारो उपन्यासों में ऐसा विशेषता से है, यहाँ तक कि कई स्थानों पर ग्रंथ उपन्यास होने के स्थान पर नाटक-से दिखने लगे हैं। कहा जा सकता है कि ये शुद्ध उपन्यास न होकर नाटकत्व तथा उपन्यासत्व-पूर्ण मिश्र ग्रंथ हैं। ऐसी आलोचना को हम वक्रालोचना नहीं कहेंगे, क्योंकि बात भी ऐसी ही है। हमारे इन चारो ग्रंथों में उपन्यासत्व तो है ही, तथापि बहुत कुछ नाटकत्व भी है। हमारा अनुभव ऐसा है कि वार्तालापों में पात्रों के असली शील-स्वभाव अच्छे प्रस्फुटित होते हैं। बीच-बीच में लेखक का कथन-मंच पर आ-आकर प्रिय पाठकों को संबोधित करने लगना हमें पसंद नहीं, क्योंकि कथन पात्रों का होना चाहिए, न कि लेखक और पाठकों का। प्राकृतिक वर्णन आदि भी नैसर्गिक रीत्या होने चाहिए, बीच में लेखक के आ कूदने से नहीं। यह मत प्राचीन उपन्यास-लेखन-परिपाटी से समर्थित हो अथवा नहीं, हमारा अपना मत अवश्य है, और हमें पसंद भी है। आजकल उपन्यास-संबंधी जो विचार माने जाते हैं, उनमें यह प्रणाली आदरणीय भी समझी गई है। आशा है, विद्वन्मंडली इस पर सहृदयता-पूर्वक विचार करेगी। अब यह उपन्यास प्रिय पाठकों के मनोरंजनार्थ अर्पित है।

लखनऊ
२६ जुलाई, १९४५

विनीत
मिश्र-बंधु

अपने नगर में पुस्तकों का प्रचार कीजिए !
४०० पार्ट-टाइम कन्वेसर भारतवर्ष-भर में चाहिए ! !

प्रत्येक शहर, नगर और क़स्बे में ऐसे बहुत-से कांग्रेस-कार्यकर्ता, साहित्य-प्रेमी अध्यापक और हिंदी-प्रेमी सज्जन होंगे, जिनके पास अपना कार्य करते हुए २-४ घंटे समय रहता है। वे अपने स्थान के लिये खासकर और आस-पास के ज़िलों के लिये साधारणतया हमारे पार्ट-टाइम कन्वेसर (कुछ समय देनेवाले कन्वेसर) वन सकते हैं। प्रत्येक दिन २-४ घंटे काम करके वे हर महीने १००) से २००) कमा सकते हैं। हम हर महीने श्रेष्ठ पुस्तकों का २५) से ५०) का सेट निकाल रहे हैं। प्रत्येक पुस्तक की २०-२० प्रतियाँ, अपने हल्के में, स्कूलों-कॉलेजों तथा छोटी-बड़ी लाइब्रेरियों में और धनी-मानी व्यक्तियों, व्यापारियों, वकीलों, डॉक्टरों तथा हिंदी-प्रेमी विद्यार्थियों के हाथ आसानी से बेच सकते हैं। इस तरह कम-से-कम ५००) का नया निकला माल प्रतिमास इनके द्वारा खप सकता है। पुराना माल ५००) का अलग बिकेगा। पार्ट-टाइम कन्वेंसर इस तरह महीने में १,०००) का माल बेच लेंगे। इसके अलावा बाहरी हिंदुस्थान-भर की सभी पुस्तकें भी वे हमसे मँगाकर बेच सकते हैं।

[नोट—जो पूरा टाइम लगा सकते हैं, वे २,०००) से ३,०००) का माल बेच सकते हैं। उनकी आमदनी दूनी ४००) तक होगी। इस तरह के पूरा समय देनेवाले हमारे १० कन्वेसर हिंदुस्थान-भर में घूम रहे हैं। १० कन्वेसर और चाहिए। कुल २० कन्वेसर चाहिए। इनके नियम भी आप हमसे मँगाकर अपने यहाँ के लिये कोई फ़ुल-टाइम कन्वेसर दीजिए।]

प्रत्येक हिंदी-प्रेमी को अपना ख़ाली वक़्त साहित्य और भाषा के प्रचार में लगाकर पुण्य लूटना, साथ ही धन भी कमाना चाहिए। सेवा-भाव (Missionary Spirit) रखनेवाले ४०० सज्जन भी भारत-भर

में हमारे पास हो जायँ, तो हिंदी-साहित्य की श्री-वृद्धि सरलता और द्रुत गति से हो सकती है ! आइए, हिंदी-सेवा में हमारा हाथ बँटाइए।

पार्ट-टाइम या फ़ुल-टाइम कन्वेसर बनने के नियम हमसे मँगाकर पढ़िए, और इस योजना में योग दीजिए।

दुलारेलाल

गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय, ३६, गौतम बुद्ध-मार्ग, लखनऊ

काशी-ग्रंथागार, मच्छोदरी-पार्क, काशी
भारती (भाषा)-भवन, चर्खेवालाँ, दिल्ली
राष्ट्रीय प्रकाशन-मंडल, मछुआ-टोली, पटना

विषय-सूची

प्रथम परिच्छेद

चंद्रगुप्त और सुनंदा

प्रवेश

सम्राट् चंद्रगुप्त मौर्य का जन्म निष्कलंक क्षत्रिय-कुल में, ईसा से ३४७ वर्ष पूर्व, हुआ था। कहीं-कहीं इनको महापद्मनंद से किसी मुरा-नाम्नी नाइन में उत्पन्न कहा गया है, किंतु इन दिनों की खोजों से यह बात अशुद्ध प्रमाणित हो चुकी है। इसका ब्यौरा भूमिका में मिलेगा। स्वयं चाणक्य ने इन्हें अभिजात (उच्च कुलोत्पन्न) कहा है। आप मयूरपोषक राजा के दौहित्र तथा पिप्पली-वन के मौर्य शासक के पुत्र थे। महावंश ने इनके पिता को हिमालय में राजा माना है। संभव है, पिप्पली-कानन के इस नरेश ने हिमालय में भी कोई छोटा-सा राज्य उपार्जित कर लिया हो। इनके पिता पाटलिपुत्र के नवनंद-वंशी सम्राट् धननंद के सेनापति थे। यह धननंद सम्राट् उग्रसेन के उत्तराधिकारी भाई थे। पुराणों के अनुसार महापद्मनंद इस वंश का संस्थापक, नंदवंशी अंतिम सम्राट् महानंदिन का किसी नाइन से उत्पन्न बेटा था। उधर जैन-ग्रंथों तथा ग्रीक लेखक स्ट्रैबो का कथन है कि महानंदिन की रानी का एक नाई से संपर्क हो गया, जिससे महापद्म का जन्म हुआ, तथा इसी कुचक्र में महानंदिन का विनाश भी हुआ। महापद्म के सम्राट् हो जाने से यह राजघराना नवीन नंद-वंश होने से 'नवनंद-वंश' कहलाया। यहाँ नव से प्रयोजन नौ संख्या का न होकर नवीन का था, किंतु बहुतेरे लेखकों ने इससे संख्या ही का प्रयोजन लेकर इस वंश में महापद्मनंद तथा उसके आठ बेटों का एक दूसरे के पीछे शासक होना मान लिया। इस वंश का राज्य ८० वर्ष चला। यह घराना बड़ा धन-लोभी कहा गया है। महापद्म ने सारे जनपदों को नष्ट करके अपना साम्राज्य व्यास-नदी तक फैलाया। कुछ महाजनपद शिशुनाग-वंश के समय जीते जा चुके थे। शेष

पौरव, ऐक्ष्वाकु, पांचाल, हैहय, कलिंग, अश्मक, कौरव, मैथिल, शूरसेन और वीतिहोत्र-नामक जनपदों को महापद्म ने मिटाकर अपने नवार्जित साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया। किंतु कुछ कारणों से ऐतिहासिकों ने इस शूद्र-वंश को सम्राट् न मानकर पहला सम्राट् चंद्रगुप्त मौर्य को ही माना है। इस वंश के नरेशों में महापद्म, सत्यसेन, उग्रसेन और धननंद के नाम लिखे हैं। पुराणों का कथन है कि महापद्म ने ८८ वर्ष राज्य किया, तथा उसके आठ पुत्रों ने सब मिलाकर केवल १२ वर्ष। ऐतिहासिकों का कहना है कि नवनंद-वंश ने कुल मिलाकर प्रायः ८० वर्ष राज्य किया। यूनानियों का कथन है कि धननंद के दल में २०,००० घोड़े थे, २,००० रथ, ४,००० हाथी तथा दो लाख पैदल। इस वंश के प्रधान मंत्री वररुचि उपनाम कात्यायन थे, जिन्होंने अष्टाध्यायी-वृत्ति-व्याकरण-कारिका, प्राकृत-प्रकाश, पुष्पसूत्र तथा लिंगवृत्ति-नामक ग्रंथ लिखे। प्रसिद्ध अष्टाध्यायीकार पाणिनि ऋषि महापद्मनंद की सभा में थे। यहीं ऐतिहासिक विवेचन समाप्त होता है।

कथारंभ—महाविद्यालय

पाटलिपुत्र में एक महाविद्यालय भी था, जिसमें देश-देश के विद्यार्थी पढ़ते थे। प्रसिद्ध विश्वविद्यालय तक्षशिला का परम प्रवीण विद्यार्थी विष्णुगुप्त चाणक्य उपनाम कौटिल्य भी पाटलिपुत्र के विद्यालय में एक शिक्षक था। चंद्रगुप्त मौर्य इसी में एक विद्यार्थी था। इसका शरीर सबल, सुगठित, गौर-वर्ण-युक्त और बड़ा ही प्रतापवान् था। यह छात्र जैसा प्रबल और विनीत था, वैसा ही पढ़ने में भी परम प्रवीण। इसने शस्त्र और शास्त्र, दोनों का पूर्ण ज्ञान तथा अभ्यास प्राप्त किया। इसके सहपाठी छात्रगण गुरुओं के पढ़ाने से जो विषय न समझ पाते थे, उसे वे इससे जान लेते थे। इस कारण आप अपने सारे सहपाठियों को परमप्रिय हो रहे थे। धनुष, खड्ग, भाला, पटा आदि में चंद्रगुप्त ने पूरी योग्यता संपादित कर ली थी। विद्या-व्यसनी भी आप पूरे थे। इनकी प्रकांड योग्यता तथा लगन से सारे अध्यापक इनसे बहुत प्रसन्न रहते थे, और चाणक्य की तो इन पर

विशष कृपा थी। इन्हें पढ़ाते भी वह पूर्ण मनोयोग से थे, यहाँ तक कि कई अध्यापकों के होते हुए भी चंद्रगुप्त गुरुदेव कहकर पुकारते पूर्ण ललक के साथ चाणक्य ही को थे। उसी महाविद्यालय में महाराजा धननंद की बेटी राजकन्या सुनंदा भी पढ़ती थी। वह भी चंद्रगुप्त की प्रवीणता से इन पर बहुत प्रसन्न रहती थी। इन दोनो में संयत भाव से यदा-कदा बातें भी हुआ करती थीं। चंद्रगुप्त राजसेनापति विशालगुप्त का पुत्र होने से राजकुमारी से बात बहुत विनम्र भाव से किया करता था। धीरे-धीरे दोनो के महान् सौंदर्य तथा इतर सद्गुणों के कारण उनका एक दूसरे पर कुछ विशेष प्रभाव पड़ने लगा। सुनंदा सौंदर्य में तो एक ही थी, और उसमें बहुतेरे श्रेष्ठ गुण भी थे, किंतु राजकन्या होने से वह अहंकार भी कुछ आधिक्य से रखती थी।

समय के साथ अधिक संसर्ग-वृद्धि से दोनो के नेत्र एक दूसरे के प्रति ठगोरी की सीमा तक पहुँच गए, किंतु यह भाव ऊपर से देखने में गुप्त रहा। केवल आंतरिक रीति से दोनो के चित्त इस अनुरक्तता को समझ गए, यद्यपि वे दोनो एक दूसरे पर यथासाध्य यह प्रकट नहीं होने देना चाहते थे। सुनंदा अपने उच्च पद के कारण इसके प्राकट्य में लज्जा का बोध करती थी, तथा चंद्रगुप्त उसे स्वामिनी मानकर प्रेम दिखलाने में एक तो सभय रहता था, दूसरे अपनी अवस्था केवल १९ वर्ष की होने से अभी विवाह का विषय भी अनुचित मानता था। शनैः-शनैः सुनंदा की अनुरक्ति बढ़ती गई, और वह इनसे विद्या-प्राप्ति की भी उत्सुक थी। अतएव उसने एक दिन यह प्रस्ताव किया कि यह उसे राजप्रासाद में नित्यप्रति घड़ी-दो घड़ी थोड़ा-बहुत पढ़ा दिया करें। चंद्रगुप्त ने इस प्रस्ताव में एक तो अपने विद्या-पठन में न्यूनाधिक व्याघात माना, दूसरे प्रेम-भाव के प्राकट्य से भविष्य में उसे गड़बड़ की आशंका हुई। अतएव उसने नम्र भाव से निवेदन किया कि विना राजा या रानी की आज्ञा के ऐसा संबंध जोड़ा जाना देखने में कहीं अनुचित न समझ पड़े। यह आशंका राजपुत्री को लगी तो बुरी, किंतु उसने ऐसी आज्ञा प्राप्त कर लेने का सुझाव मान तुरंत लिया। समय पर उसने माता की आज्ञा प्राप्त कर ली, और चंद्रगुप्त को पिता के

राजसेवी होने के कारण न चाहते हुए भी यह निबंध मान लेना पड़ा। फिर भी इन्होंने विनम्र प्रार्थना के साथ इतना अवश्य निश्चित करने का प्रयत्न किया कि अध्ययन के समय राजपुत्री की दो-चार सखियाँ वहाँ अवश्य प्रस्तुत रहा करें। राजपुत्री को यह निबंध अनुचित तो लगा, और उसे कुछ क्रोध-सा भी आ गया, किंतु इनकी बिनती पर मान उसने यह भी लिया। अब यह निजू शिक्षण का काम भी चलने लगा, जिससे सुनंदा की आसक्ति तो इनसे दिनोंदिन बढ़ती गई, किंतु इन्होंने उसे ज्यों-ज्यों निकट से देखा, त्यों-त्यों उसकी अभिमानी प्रकृति के कारण इनकी अनुरक्ति समय के साथ शिथिल पड़ती गई, यद्यपि स्वामी-सेवक-विचार के कारण इन्होंने यह भाव-परिवर्तन उस पर प्रकट न होने दिया, तथा ऊपरी मन से समादर-पूर्ण सद्व्यवहार पूर्णतया स्थापित रक्खा।

उधर धननंद का व्यवहार अपने पहलेवाले मंत्री शकटार से अच्छा न था, और कई कारणों से राजा ने उसे बंदी-गृह में डालकर एक अन्य मंत्री कात्यायन को प्रधान मंत्री बना दिया था। शकटार के बंदी-जीवन में उसके कई पुत्र मर गए, और इसे समझ पड़ा कि यदि यह स्वतंत्र होता, तो उनकी शोचनीय मृत्यु न होती। अनंतर किसी बात पर प्रसन्न होकर राजा ने उसे फिर से मंत्री बना दिया, किंतु इस बार महामंत्री न बनाकर कात्यायन के प्रधानत्व में साधारण मंत्री-मात्र नियत किया। इस मान-वृद्धि से भी प्रसन्न न होकर शकटार राजा का आंतरिकरीत्या घोर शत्रु बना रहा। एक बार राजा कृत्या यज्ञ करता था। ऐसे अवसर पर उसने उपर्युक्त चाणक्य ब्राह्मण को प्रधान ऋत्विज के स्थान पर बिठलाकर स्वयं कहीं का रास्ता लिया। वह चाणक्य को बड़ा ही क्रोधी, दृढ़-प्रतिज्ञ, यत्नशील एवं प्रवीण पुरुष समझता था, और चाहता था कि इसका किसी प्रकार राजा से विरोध हो जाय। उसने एक बार चाणक्य को कुशाएँ खोद-खोदकर उनकी जड़ों में मट्ठा भरते देखा था, जिसमें उन जड़ों को भी चीटियाँ खा जायें, और वे कुशा वहाँ कभी न पनपें। क्रोध का कारण यह था कि चाणक्य के पैर में किसी कुशा के चुभ जाने से उसका विवाह-

संबंधी विचार उस काल भग्न हो गया था। यह बड़ा ही कुरूप, काला-काला ब्राह्मण था, और इसके दाँत भी होठों के बाहर न्यूनाधिक निकले रहते थे। राजा ने इस अनिमंत्रित, कुरूप ब्राह्मण को प्रधान के स्थान पर बैठे देखकर बड़ा क्रोध किया, और सेवकों को आज्ञा दी कि भारी शिखा पकड़कर इसे बाहर निकाल दें। ऐसा होने से चाणक्य की शिखा खुल गई, और उसने क्रोधांध होकर वहीं यह प्रण किया—"यह शिखा तभी बँधेगी, जब नवनंद-वंश का नाश कर चुकूँगा।" राजा ने इस भाषण को अनर्गल समझकर चाणक्य के प्रतिकूल कोई और आज्ञा न दी।

अब यह क्रोधी ब्राह्मण पाटलिपुत्र से जाकर अपने पुराने विश्वविद्यालय तक्षशिला में शिक्षक नियत हो गया। पाटलिपुत्र से चलते समय यह चंद्रगुप्त को तक्षशिला आने का निमंत्रण देता गया था, और इन्होंने भी गुरु-भक्ति के कारण इस आज्ञा के यथावकाश पालन करने का वचन दिया था। इधर सुनंदा ने इनसे विद्या-लाभ का श्रम तो थोड़ा किया, किंतु धीरे-धीरे इन पर प्रेम प्रकट करने से वह अपने को रोक न सकी। इन्होंने बहुत समझाया कि स्वामी-सेवक-भाव के होते हुए ऐसे विचार अनुचित थे, क्योंकि इतनी बड़ी राजकन्या को कोई योग्य वर चुनना उचित था। ऐसे उपदेश उसे भले न लगे, और एक दिन एकांत में उसने इनसे इस प्रकार वार्तालाप किया—

सुनंदा—देखो चंद्रगुप्त ! मैं तुम्हें कुछ समय से ताड़ती आई हूँ। तुम्हारा भाव मेरे प्रति सदैव प्रेम-पूर्ण समझ पड़ा, किंतु अब पीछे क्यों हट रहे हो ?

चंद्रगुप्त—देवीजी ! मैंने केवल स्वामी-सेवक-भाव की भक्ति आपके चरणों में अर्पित की थी, इससे बढ़कर दांपत्य भाव-पूर्ण प्रेम के लिये मैं आपके संबंध में अपने को सदैव अयोग्य समझता आया हूँ।

सुनंदा—क्या आप सत्य की शपथ खाकर कह सकते हैं कि ऐसा भाव आपके चित्त में मेरे संबंध में कभी नहीं आया ?

चंद्रगुप्त—देवीजी ! नवयुवकों का चित्त चंचल और प्रायः रूप-

रसिक भी होता ही है। मैं शपथ-पूर्वक कैसे बिनती कर सकता हूँ कि चित्त में कभी आसक्ति आई ही नहीं। फिर भी अपनी पात्रता पर प्रत्येक पुरुष को सदैव ध्यान रखना चाहिए। कहाँ इतनी बड़ी राजकन्या और कहाँ एक साधारण सेनापति का पुत्र ! अभी हम लोगों की अवस्था भी विवाह के योग्य नहीं है। आपको अपने लिये कोई योग्य वर खोजना चाहिए। राजा और रानी भी इस मामले को पसंद कभी न करेंगी।

सुनंदा—आप तो साथ-ही-साथ दस-दस बातें कहते हैं। एक-एक बात कहिए। दृढ़ता-पूर्वक उत्तर दीजिए कि आपको चिरकाल-पर्यंत आसक्ति हुई या नहीं ?

चंद्रगुप्त—हुई अवश्य, किंतु मैंने उसे किसी पर प्रकट न किया।

सुनंदा—प्रकट न हुई, तो मैंने जानी कैसे ?

चंद्रगुप्त—प्रवीण राजों से चित्त की भी बात छिपती नहीं। आपकी भी आसक्ति ही जानकर अपने पद की अयोग्यता के कारण यह अध्यापन का कार्य मैं नहीं उठाता था।

सुनंदा—यह तो मैं भी समझ गई थी, किंतु अब पीछे हटने का क्या कारण है ?

चंद्रगुप्त—न मैं कभी आगे बढ़ा था, न पीछे हटता हूँ। आपके गौरव-पूर्ण पद के कारण मैं इस विषयवाली अपनी मानसिक चंचलता सदैव बहुत अनुचित समझता रहा। इसी कारण मैंने उसे दबाए रखकर यथासाध्य प्रकट कभी न होने दिया। यह आपकी महती मानसिक शक्ति थी, जिससे ताड़ उसे तो भी गईं।

सुनंदा—केवल चिकनी-चुपड़ी बातों से मुझे मूर्खा बनाने का प्रयत्न छोड़कर शुद्ध, सच्चे कथन कीजिए।

चंद्रगुप्त—क्या मेरे कथनों में देवीजी कोई मिथ्यात्व का संदेह करती हैं ?

सुनंदा—पूरा मिथ्यात्व तो नहीं है, किंतु सारे विचार प्रकट न करके अंश-मात्र से मुझे किसी प्रकार प्रसन्न भी रखकर टालना चाहते हैं। चित्त

में नहीं बैठता कि वास्तविक प्रेम-पूर्ण भाव रखते हुए केवल पदवी के कारण आप मेरी शुद्ध, पूर्ण, महती तथा स्वाभाविक प्रीति को ठुकराते हों। सच-सच क्यों न कहिए कि इस भाव-परिवर्तन का क्या कारण है ?

चंद्रगुप्त—मैं देवीजी को अपने ऊपर ऐसी कृपा के कारण कोटिशः धन्यवाद देता हूँ, किंतु ऐसा कहना ही पड़ता है कि मेरे प्रेम-गर्भित विचार केवल बाल-चंचलता-वश थे, शुद्ध, स्थिर तथा तर्क-पूर्ण भावी संबंध के आधारभूत नहीं। पदों के महान् अंतर से यह संबंध जीवन-पर्यंत हम दोनों में से किसी को भी सुखप्रद नहीं होगा। देवीजी स्वयं विचार सकती हैं कि इतने भारी राजपद क्या, साम्राज्य-पद से उतरकर एक साधारण राजसेवक के घर में कैसे प्रसन्न रह सकेंगी ? उधर अभी तो स्वल्पकालिक संगति के कारण में स्वामी-सेवक-भाव की मर्यादा येन केन प्रकारेण पूर्णतया निभाए जाता हूँ, किंतु ऐसा यावज्जीवन आठों पहर कैसे निभ सकता है ?

सुनंदा—यदि साम्राज्य का इतना घमंड होता, तो मैं लाज और संकोच छोड़कर इस अविरुद्धगतिगामिनी प्रीति को विना आपके थोड़े भी प्रयत्न के प्रकट क्यों करती ? मेरा चित्त नितांत विवश है। भविष्य में इन चरणों की सेवा ही मैं अपना अहोभाग्य मानूँगी। शुद्ध, सात्त्विक प्रेम के आगे मैं साम्राज्य-पद को भी तुच्छ मानती हूँ।

चंद्रगुप्त—देवीजी ! आपके ऐसे कथन काम-काजू न होकर केवल साहित्यिक हैं। क्षमा कीजिएगा, अभी आपकी अवस्था केवल १७ वर्ष की है। ऐसे ऊँचे प्रश्नों पर शुद्ध विचार कर सकने की योग्यता क्या अपने में समझती हैं ? सुंदर मुख की चमक का प्रभाव साल-दो साल के आगे न चलेगा, और प्रेम-गर्भित यह अंध फसफसाहट लुप्त हो जायगी। अनंतर देवीजी को सिर पर हाथ रखकर रोते ही बनेगा। ऐसे अनुचित संबंध के विषय में मैं एक शुद्ध क्षत्रिय तथा निष्कपट राजसेवक होकर एक उच्च कुलस्थ राजकन्या को कैसे सम्मति दे दूँ ? मानता हूँ कि भवदीय ऐसे प्रेम-पूर्ण विचार मेरे लिये बहुत बड़े अभिमान, हर्ष तथा गौरव के कारण हो सकते हैं, फिर भी इनकी स्थिरता मुझे असंभव दिखती है। ऐसी दशा में

एक प्रेमवती राजमहिला का सारा जीवन मैं कैसे कंटकाकीर्ण बनाऊँ ? देवीजी स्वयं विचार कर लें कि इस दशा में क्या मैं घोर स्वार्थपरता का दोषी न हूँगा ? अपने ऊपर ऐसी उदार प्रीति के लिये मैं असंख्य श्रद्धांजलियों का अर्पण इन पवित्र चरणों पर करता हूँ, किंतु मंत्रणा यही दूँगा कि ऐसे कंटक-पूर्ण मार्ग से विरत होना ही आपके लिये बुद्धिमानी की बात है। देवीजी ने मुझे निजू अध्यापक बनाने का गौरव प्रदान किया है। ऐसी दशा में मेरे उप-देशों को भी मानकर उस पद को सफल बनाइए।

सुनंदा—कहना आपका साधारण दशाओं में ठीक है, किंतु ऐसे पोच विचारों से मेरी मानसिक दृढ़ता का घोर अपमान भी है। क्या इतने दिनों की संगति से आपने मुझे कभी अदृढ़चित्तता का दोषी पाया है ?

चंद्रगुप्त—सो तो नहीं हुआ है, देवीजी ! किंतु साधारण घटनाओं के संबंध की दृढ़ता एक वस्तु है, तथा सारे जीवन के लिये हाथी से उतर-कर गर्दभ की सवारी से प्रसन्न रह सकना दूसरी। यह दृढ़ता का प्रश्न न होकर विचार-शक्ति का है, जिसमें इतने दिनों की संगति और अध्यापन के कार्य से मैंने आपको बहुत सबल नहीं पाया है। क्षमा की प्रार्थना करके ऐसे धृष्ट कथन करता हूँ।

सुनंदा—यह मैं भी मानती हूँ कि भवदीय अध्यापन के संबंध में मैंने विद्या और ज्ञान-प्राप्ति की ओर समुचित प्रयत्न नहीं किया है, किंतु यह दोष मेरी विचार-शक्ति का न होकर प्रेम का है। आपके साथ बैठकर मेरा प्रेम-लोलुप चित्त अन्य ओर जा ही न सका। करती, तो क्या करती ? पूर्ण-तया विवश रही; किंतु इससे मेरी तर्क-शक्ति अथवा अनुभव की निंदा नहीं हो सकती। विद्यालय के अध्यापकों से समुचित मात्रा में विद्या एवं ज्ञानोपार्जन करती आई हूँ, तथा ये स्वयं कहा करते हैं कि आयु को देखते हुए मुझमें अनुभव तथा बुद्धि कुछ विशेष ही हैं। धोखेबाज़ी छोड़कर सच-सच कहिए कि आप क्यों पीछे हट रहे हैं ? मैं मनुष्य-हीन राज्य से राज्य-हीन मनुष्य को सौ बार श्रेष्ठतर मानती हूँ।

चंद्रगुप्त—देवीजी ! मैं आपसे धोखे-धंधारी की बातें नहीं कर रहा

हूँ। जब कई बार यथावत् भाषण की आज्ञा हो चुकी है, तब गुह्याद्गुह्य मानसिक भाव भी प्रकट करता हूँ। अपराध क्षमा होने का वचन पहले ही से मिल जाय।

सुनंदा—यह बात पूर्णतया मानती हूँ। अब समझ पड़ा कि आप यथातथ्य पर उतरनेवाले हैं।

चंद्रगुप्त—इस विषय में मेरे चित्त में तीन प्रधान आपत्तियाँ हैं। एक तो यही है कि देवीजी के प्रपितामह महोदय नापित थे। यह अवश्य है कि ऐसे छ पूर्व-पुरुषों में पाँच सुकुलोद्भव थे, किंतु एक के अनभिजात होने से सम्राटों में तो काम चल जाता है, तथापि मेरे-से साधारण पुरुषों में सामाजिक काठिन्य उपस्थित हो जायगा। मैं अभिजात समझा जाता हूँ। ऐसा संबंध करने से साम्राज्य के पद का गौरव तो मुझे मिलेगा नहीं, और मैं जैसे-का-तैसा साधारण राजपुत्र अथच सेनापति-मात्र बना रहूँगा। भविष्य में मेरी समता के पुरुष मेरे कुटुंब से संबंध जोड़ने में हिचकेंगे।

सुनंदा—आप जानते ही हैं कि क्षत्रिय-योनि चतुर्विध समान होती है, अर्थात् राजा, शूर, कुलीन और सेनापति, ये सब श्रेष्ठ क्षत्रिय होते हैं। इस प्रकार भारी राजवंशभव होने के कारण स्वयं मेरा जन्म शुद्ध क्षत्रिय-कुल में हुआ है। थोड़ा-सा काठिन्य अवश्य पड़ता है, किंतु सब काम चला जायगा, विशेषतया नवनंद-कुल के सहायक हो जाने से। यवन लोग तो भारतीय अथवा आर्य भी नहीं हैं, तथापि क्या उनको भी क्षत्रिय मानकर यदा-कदा संबंध नहीं जुड़ते हैं? ऐसी दशा में क्या शुद्ध प्रेम को ठुकराना आप-जैसे चरित्रवान् पुरुष को योग्य है?

चंद्रगुप्त—योग्य इसे कौन कह सकता है?

सुनंदा—बड़े हर्ष का विषय है कि एक बात में तो मुझसे आपका मतैक्य है। आशा है, अब इस पर आप हठ न करेंगे।

चंद्रगुप्त—क्यों करने लगा? यह बात मैं अब फेरे लेता हूँ।

सुनंदा—बड़ी कृपा; अब दूसरी आपत्ति प्रकट कीजिए।

चंद्रगुप्त—द्वितीय संदेह यह है कि मैंने आपको कई बार अभिमान-पूर्ण

व्यवहार करते हुए देखा है। इससे चरित्र-संबंधी क्षति प्रकट होती है।

सुनंदा—राजसेवकों आदि से ऐसा व्यवहार प्रबंध-संबंधी समझा जा सकता है। जान ऐसा पड़ता है कि इसमें मामले को पूरा न जानने से भ्रम उत्पन्न हो गया होगा।

चंद्रगुप्त—होता ऐसा भी प्रायः है, किंतु मैंने अनेक बार मामलों को समझकर आपमें अभिमान की मात्रा आधिक्य से पाई है। इस प्रकृति से संगति-वृद्धि के कारण संबंध असंभव हो सकता है।

सुनंदा—द्वितीय बार विचार करने से मैं यह समझती हूँ कि यह दोष मुझमें न्यूनाधिक कहा जा सकता है। किसी ने इस प्रकार स्पष्टरीत्या अब तक मुझसे ऐसा कथन किया नहीं था। मैं वचन-बद्ध होती हूँ कि यह महादोष भविष्य में एकदम छोड़ दूँगी।

चंद्रगुप्त—देवीजी! अपनी प्रकृति को एकाएकी बदल देना सुगम नहीं है। ऐसे वचनों को मान लेना लौकिक अनुभव के प्रतिकूल है। अब तीसरी कठिनता भी कहता हूँ।

सुनंदा—वह भी कह डालिए। मेरे विचार में अभिमान-पूर्ण प्रकृति का छोड़ना किसी दृढ़-प्रतिज्ञ युवती के लिये असंभव नहीं है। तथापि आप तीसरी बात भी कहिए।

चंद्रगुप्त—तीसरी बात वही पदवियों के अंतर की है। आपका मेरे पद से सदैव प्रसन्न रहना असंभवप्राय दिखता है।

सुनंदा—इसके विषय में तो मैं पहले ही कथन कर चुकी हूँ। इन अंतिम दोनो कठिनाइयों के अतिरिक्त कोई और बात तो आपके चित्त में नहीं है?

चंद्रगुप्त—नहीं।

सुनंदा—तब इनके विषय में जो शंका-समाधान मैंने किया है, उससे क्या आपकी मनस्तुष्टि नहीं होती?

चंद्रगुप्त—यदि होती, तो ऐसे नीरस वचन इतनी कृपाओं के पीछे कहता ही क्यों? अभिमान की बात भी महत्ता से ही उत्पन्न है। दोनो बातें वास्तव में हैं एक ही, किंतु मेरा शंका-सामाधान कठिन दिखता है।

मैं फिर भी कहूँगा कि आपको किसी योग्य पुरुष को अपना हृदय देना चाहिए, मुझ-से अयोग्य को नहीं। आपके माता-पिता की भी मनस्तुष्टि इससे न होगी। ऐसी दशा में बहुत हठ करके यदि आपने उनसे अभी-प्सित आज्ञा प्राप्त भी कर ली, और अंत में प्रसन्न जीवन देख न पड़ा, तो क्या लाभ होगा ?

सुनंदा—आज हम दोनो का वार्तालाप बहुत खुलकर शुद्ध हृदय से हुआ है। आगे-पीछे फिर संभाषण होगा। अभी से अभिमान छोड़ने का प्रयत्न करके साल-दो साल में जब सफलता दिखला दूँगी, तब संभवतः आपकी मनस्तुष्टि हो जायगी।

चंद्रगुप्त—एक साधारण पुरुष के कारण अपने चित्त को इतना कसने की तत्परता पर मैं आपको बधाई देता हूँ, यद्यपि समझता हूँ इस प्रयत्न को अनावश्यक।

सुनंदा—अभी क्या शीघ्रता है ? आगे देखा जायगा।

चंद्रगुप्त—जैसी आज्ञा।

द्वितीय परिच्छेद

वैवाहिक विचार

राजपुत्री सुनंदा तथा चंद्रगुप्त के तेवर ताड़कर एक सखी को संदेह उपस्थित हुआ, और उसने सम्राज्ञी महोदया के सम्मुख इसका प्रकट करना आवश्यक समझा। समय पाकर उसने रानीजी से इस प्रकार वार्तालाप किया—

सखी—महादेवीजी महोदया ! यदि क्षमा का वचन दिया जाय, तो एक गुप्त रहस्य निवेदन करूँ।

सम्राज्ञी—कहो, क्या कहती हो ? कोई बहुत अनुचित विषय तो नहीं है ?

सखी—बहुत अनुचित तो अभी नहीं है, किंतु मामला जा उसी ओर सकता है। मुझे संदेह अवश्य है।

सम्राज्ञी—तब कहो न, कहती क्यों नहीं ?

सखी—बात यह है कि देवीजी ने चंद्रगुप्त मौर्य को राजपुत्री के अध्यापनार्थ नियुक्त किया था। चल तो अध्यापन भी रहा है, किंतु कभी-कभी एकांत में ऐसी बातें भी होती हुई समझ पड़ती हैं, जो संदिग्ध मानी जा सकती हैं। मैं कुछ बिनती नहीं करती, न कुछ ज्ञात ही है, किंतु महादेवी को चैतन्य अवश्य रहना चाहिए।

सम्राज्ञी—बात तुम्हारी उचित समझ पड़ती है। अच्छा, मैं बेटी से वार्ता करूँगी।

सखी—महादेवीजी मुझे क्षमा करेंगी, मैंने जो कुछ कहा है, वह केवल राजभक्ति के कारण, राजकुटुंब का मान स्थापित रखने को। मेरा नाम राजकुमारीजी पर विदित न हो, माताजी !

सम्राज्ञी—तुझे कोई भय न करना चाहिए, मैं तेरी राजभक्ति से प्रसन्न हूँ। तेरा नाम बेटी को ज्ञात न होने पाएगा।

सखी—बड़ी ही कृपा हुई, देवीजी !

इस प्रकार राजमहिषी ने यह उद्विग्नता-जनक विषय जानकर बिना सम्राट् को जनाए एक बार चंद्रगुप्त से यों वार्तालाप किया—

सम्राज्ञी—बेटा चंद्रगुप्त ! आजकल बेटीजी का शिक्षण कैसा चल रहा है ?

चंद्रगुप्त—माताजी ! मैं इस कार्य में हाथ डालना चाहता न था, क्योंकि एक तो मेरा अध्ययन-समय स्वयं रुकता है, दूसरे समवयस्क बालक-बालिकाओं में इतर वार्तालाप भी यदा-कदा हो जाने से केवल शिक्षण-कार्य उस तत्परता से नहीं चलता, जैसा कि होना चाहिए।

सम्राज्ञी—इतर बातें क्या हो सकती हैं ?

चंद्रगुप्त—विद्यालय के खेल-तमाशों तथा शतशः अन्यान्य विषयों की। किसी की सारी बातें विना उसकी स्वीकृति के माताजी तक पर भी प्रकट नहीं की जा सकतीं।

सम्राज्ञी—(कुछ रुष्ट होकर) क्या अनुचित विष योंपर बात करना तुम्हारे भद्रत्व तथा राजभक्ति के अनुकूल है ?

चंद्रगुप्त—महादेवीजी ! मैंने किसी अनुचित विषय का कथन कब किया ? मैंने तो इतनी ही बिनती की कि किसी का सारा उचित वार्तालाप भी विना उसकी आज्ञा के प्रकट नहीं करना चाहिए।

सम्राज्ञी—क्या ऐसी बातों से मुझे अनुचित विषयों का संदेह नहीं हो सकता ?

चंद्रगुप्त—जो आज्ञाएँ माताजी इस समय मुझे दे रही हैं, वे क्या अनुचित हैं ? फिर भी क्या विना महादेवीजी की आज्ञा के किसी पर प्रकट की जा सकती हैं ? बिनती मेरी यह है कि माताजी का आजवाला मुझसे वार्तालाप बहुत ही उचित है, क्योंकि प्रत्येक माता को अपनी कन्या के आचरणों पर पूर्ण दृष्टि रखनी चाहिए, तथापि क्या मैं इसे किसी पर प्रकट कर सकता हूँ ?

सम्राज्ञी—तो क्या राजकुमारी ने आपसे कभी कोई अनुचित संभाषण किया ?

चंद्रगुप्त—आपकी राजपुत्री एक बहुत ही उच्च चरित्रवती कुमारी हैं। क्या वह कभी किसी से अनुचित वार्तालाप कर सकती हैं ? क्या देवीजी को उनके परमोच्च आचरण पर पूर्ण विश्वास नहीं ?

सम्राज्ञी—जब तुम मेरी पुत्री को इतना पूज्य मानते हो, तब मैं भला क्या ऐसी गिरूँगी कि उसके आचरणों को संदिग्ध मानूँ ?

चंद्रगुप्त—यही बात है, माताजी !

सम्राज्ञी—आपने कहा था कि उनका अध्यापन आपके द्वारा यथोचित नहीं चलता।

चंद्रगुप्त—बात तो यही है, महादेवीजी !

सम्राज्ञी—ऐसा क्यों है ?

चंद्रगुप्त—मेरी अयोग्यता से।

सम्राज्ञी—वह अयोग्यता कैसे उत्पन्न हुई ?

चंद्रगुप्त—मैं तो बिनती कर ही चुका हूँ कि मेरे उनके प्रायः समवयस्क होने से ऐसा है।

सम्राज्ञी—क्या आप अध्यापन-कार्य स्थायी रखना नहीं चाहते ?

चंद्रगुप्त—मेरी तो यही इच्छा सदैव थी, और अब भी यही बिनती है।

सम्राज्ञी—तुम्हारी बात मेरी समझ में नहीं आ रही है।

चंद्रगुप्त—यह मेरा दुर्भाग्य है, देवीजी ! मैं तो इस राजवंश का पितृपितामहादि के समय से राजभक्त सेवक हूँ।

सम्राज्ञी—तब प्रत्यक्ष कहते क्यों नहीं कि बेटी से तुम्हारी गुप्त बातें क्या हुईं ?

चंद्रगुप्त—समझ पड़ता है, पूज्य राजकुमारी के पूर्ण भद्रत्व पर जितना विश्वास मुझे है, उतना देवीजी को नहीं। ऐसी सच्चरित्रा राज-कन्या मैंने तो कोई देखी नहीं।

सम्राज्ञी—फ़िर उसका साथ क्यों छोड़ना चाहते हो ?

चंद्रगुप्त—अपनी अध्यापन-संबंधी अयोग्यता के कारण।

सम्राज्ञी—मैं तो तुम्हें अयोग्य समझती नहीं।

चंद्रगुप्त—यह माताजी की कृपा है।

सम्राज्ञी—मैं फिर भी चाहती हूँ कि आप पूरी बात कह सकते।

चंद्रगुप्त—आप राजकुमारीजी से ही क्यों न पूछिए ? क्या वह कभी मिथ्या भाषण कर सकती हैं ? उनके साधारण संभाषण तक का प्रकट करनेवाला मैं कौन हूँ ? यह उनकी कृपा थी कि उन्होंने मित्र-भाव-पूर्ण कुछ वार्तालाप मुझसे किए। उनमें किंचिन्मात्र अनौचित्य न था; किंतु कोई भद्र पुरुष किसी का भेद कैसे खोलेगा ?

सम्राज्ञी—भेदों में क्या अनौचित्य नहीं हो सकता ?

चंद्रगुप्त—हो अवश्य सकता है, किंतु राजकुमारीवालों में न था।

सम्राज्ञी—समझ पड़ता है, तुमसे कुछ कहना-सुनना अनावश्यक है।

चंद्रगुप्त—इस विषय पर तो ऐसा ही है, माताजी ! मैं अपने भेद खोल सकता हूँ, किंतु किसी अन्य के नहीं।

सम्राज्ञी—तब तुम जा सकते हो।

"जो आज्ञा" कहकर चंद्रगुप्त प्रणामानंतर वहाँ से चल दिए, तथा सम्राज्ञी ने राजकुमारी का स्मरण करके उनसे संभाषण आरंभ किया—

सम्राज्ञी—बेटी ! आजकल तेरा अध्ययन कैसा चल रहा है ?

सुनंदा—माजी की कृपा से महाविद्यालयवाले अध्ययन में समुचित उन्नति हो रही है।

सम्राज्ञी—और चंद्रगुप्तवाले निजू अध्यापन से ?

सुनंदा—हो उससे भी न्यूनाधिक रही है, किंतु वह उतनी उन्नति-मात्र से तादृश प्रसन्न नहीं हैं।

सम्राज्ञी—क्यों ?

सुनंदा—जितनी महती उन्नति वह अपनी बढ़ी हुई योग्यता के कारण उचित समझते हैं, उतनी वास्तव में नहीं होती। वह अपने भी समय का अपव्यय-सा मानते हैं।

सम्राज्ञी—इसका कारण क्या है ?

सुनंदा—समवय के कारण विषयांतरों पर भी बातचीत हो जाने से वह कालापव्यय समझते हैं ।

सम्राज्ञी—तब तू ऐसे विषयों पर उनसे बात ही क्यों करती है ?

सुनंदा—बाल-सुलभ चांचल्य-वश ।

सम्राज्ञी—क्या किसी अनुचित विषय पर तेरा संभाषण कभी उनसे हुआ ?

सुनंदा—वह ऐसे बड़े सज्जन हैं कि किसी अनुचित विषय पर बात कभी कर ही नहीं सकते ।

सम्राज्ञी—क्या तू जानती है कि वह यह अध्यापन-कार्य छोड़ना चाहते हैं ?

सुनंदा—यह मुझे भली भाँति ज्ञात है, वरन् यह भी बात है कि वह यह कार्य आदि से ही नहीं लेना चाहते थे ।

सम्राज्ञी—इसका क्या कारण है ?

सुनंदा—एक तो वह सारा समय अपने ही अध्ययन में लगाना चाहते थे, दूसरे समवयस्क होने के कारण उन्हें यह भी भय था कि मेरी ओर से कहीं विवाहेच्छा आदि के विचार न उठ पड़ें ।

सम्राज्ञी—क्या उस बालक का चित्त ऐसा स्वाभिमानी है कि इस राजवंश से संबंध उसे इतना अप्रिय है ? इतना अहंकार उस मूर्ख को कहाँ से आया ?

सुनंदा—उनके भारी सौंदर्य तथा विद्वत्ता के कारण उन्हें भय रहता है कि कहीं कोई युवती उन पर आसक्त न हो जाय ।

सम्राज्ञी—क्या यह राजकुल भी उसे तुच्छ दिखता है ?

सुनंदा—ऐसा नहीं है, माताजी ! वह अपने ही को तुच्छ समझते हैं, और विचार करते हैं कि यदि मेरी-सी कोई उच्च कुलस्थ राजकन्या उनसे विवाह करे, तो वह उनके न्यून पद के कारण आगामी

जीवन में सदैव प्रसन्न न रह सकेगी। इसीलिये उसे भविष्य में दुखी न बनाने के विचार से वह पहले ही से ऐसा अवसर नहीं उपस्थित करना चाहते, जिसमें कोई मुझ-सी राजकुमारी उन पर अनुरक्त हो।

सम्राज्ञी—यह तो नितांत उलटी बात है; मुझे भय ऐसा था कि कभी वह तुझे अनुकूल करने का प्रयत्न न करे।

सुनंदा—ऐसी बातों से वह सौ कोस दूर हैं।

सम्राज्ञी—क्या तुझसे-उनसे कभी किसी गुप्त विषय पर भी बात हुई है?

सुनंदा—अवश्य।

सम्राज्ञी—जब ऐसे सज्जन थे, तब यह बात क्यों हुई?

सुनंदा—उन्होंने ऐसा कभी न किया। जो बात हुई, वह उनकी इच्छा के प्रतिकूल मेरी ही ओर से हुई।

सम्राज्ञी—क्या बात हुई?

सुनंदा—माताजी क्षमा करें, मैं उनसे विवाह करने की इच्छुक थी, और हूँ।

सम्राज्ञी—अरे! अच्छा, फिर उन्होंने क्या कहा?

सुनंदा—उन्होंने उपर्युक्त कारणों से किसी दशा में ऐसा होना स्वीकार न किया।

सम्राज्ञी—बेटी! तेरे ही मुख से उनकी प्रशंसा तथा तेरी निंदा प्रमाणित हो रही है। क्या तुझे अपने को इतना भूल जाना चाहिए था कि एक साधारण राजा तथा सेनापति के पुत्र से ऐसी प्रार्थना, अपनी ओर से विना उसकी इच्छा के करती? क्या इस क़रतूत से तेरे पिता के साम्राज्य का मान बढ़ा या स्थापित तक रहा? क्या विना माता-पिता की इच्छा के तुझे अपनी ओर से ऐसा प्रस्ताव करना भारतीय सभ्यता के अनुकूल था?

सुनंदा—माताजी! आपने साथ-ही-साथ बहुतेरे प्रश्न पूछे हैं, जो परिस्थिति को देखते अनुचित भी नहीं, किंतु मैं एक-एक को उठाती

हूँ। क्षमा की प्रार्थना पहले ही से किए लेती हूँ। दोष मेरा क्षंतव्य तो है नहीं, किंतु आपके अगाध प्रेम तथा महती उदारता से निश्चय है कि आप मेरे ऐसे अपराधों को क्षमा अवश्य कर देंगी। मेरा कोई अनुचित व्यवहार तो हुआ नहीं, केवल कुछ चांचल्य की बात है।

सम्राज्ञी—बात तो बहुत अनुचित है, किंतु कहती जा। तेरे सत्य भाषण से मैं अवश्य प्रसन्न हूँ, क्योंकि तूने विना अणु-मात्र घटाए-बढ़ाए सब बातें कही हैं।

सुनंदा—बड़ी कृपा माताजी! अब मैं महत्ता के प्रश्न को उठाती हूँ। अपना नवनंद-वंश आज दिन भारतीय राजमंडल में सर्वोत्कृष्ट है। अपने यहाँ की राजकुमारियों को विवाह करने में राजकीय स्थिति को देखते कुछ-न-कुछ उतरना पड़ेगा ही। सप्तसिंधु, मालवा, वाह्लीकादि के नरेशों में से कोई वर चुना जा सकता था। हैं वे सब भी पद में पिताजी से बहुत नीचे। पिप्पली-वन के मौर्यों के भी पहाड़ी देश मिलाकर दो राज्य हैं। मैंने मालव, सप्तसिंधु आदि के कई राजकुमार देखे, जिनमें से कोई मुझे थोड़ा भी अच्छा न लगा। इस शाक्यवंशी मौर्य राजकुमार का राज्य तो उनके देखते लघु है, किंतु गुण-गण पर ध्यान देने से सारे ज्ञात अन्य राजकुमार इसके आगे नितांत नगण्य हैं। विवाह के लिये केवल राज्य का आकार ही नहीं विचारणीय है, वरन् वर की विद्या, बुद्धि, आचरण, शस्त्रास्त्रों में प्रवीणता आदि सभी ध्यान में रखने योग्य हैं। आप ही बतलाने की कृपा कीजिए कि इसके आगे राज्य की गुरुता के अतिरिक्त किस राजकुमार की बात सोची तक जा सकती है?

सम्राज्ञी—तेरी यह बात तो, बेटी! पक्की बैठती है; तब भी तूने इतनी शीघ्रता क्यों की?

सुनंदा—चांचल्य मैंने क्या कर डाला? कुछ उनका पति-रूप में वरण तो कर नहीं लिया, केवल आशय जानने का प्रयत्न-मात्र किया, जिसमें उनकी नाहीं के कारण बात स्वाभाविकरीत्या कुछ बढ़ अवश्य

गई । मुझे आशा थी कि वह मेरे विचार को सुनकर बहुत प्रसन्न हो जायँगे, किंतु हुआ ऐसा नहीं। अप्रसन्नता तो उन्होंने प्रकट न की, किंतु पदवियों के भारी अंतर समझकर मेरी भविष्य की निराशाओं का विचार उन्हें नहीं छोड़ता । मैं समझती थी कि जब वह इस प्रस्ताव से तुरंत भारी प्रसन्नता प्रकट करेंगे, तब उचित प्रकार से आपकी बहुमूल्य स्वीकृति प्राप्त कर ली जायगी । आपके उदार मानस से मुझे इसमें कोई कठिनता न दिखती थी । पिताजी की सम्मति अवश्य कुछ दुष्प्राप्य है, किंतु आपके द्वारा वह भी तादृश दुस्तर न समझ पड़ी ।

सम्राज्ञी—बातें तो तेरी बहुत अनुचित नहीं हैं, किंतु चंद्रगुप्त के न मानने से अब तेरा विचार क्या है ?

सुनंदा—समझ पड़ता है, दो तीन वर्ष के भीतर मेरा आचरण-प्रस्फुटन देखकर उनका भ्रम मिट जायगा ।

सम्राज्ञी—एक साधारण राजकुमार के अर्थ इतना परिश्रम भी क्या तुझे अपने पद के अयोग्य नहीं दिखता ?

सुनंदा—माताजी ! यह सारे जीवन का प्रश्न है। यदि किसी अयोग्य वर से पाला पड़ गया, तो क्या होगा ?

सम्राज्ञी—अपने यहाँ की सभ्यता में प्रीति विवाह के अनुसार चलती है ।

सुनंदा—होता ऐसा भी आया है, किंतु ऐसी दशाओं में असफलताएँ भी कम नहीं होतीं। जब आप ही ने मेरे लिये विद्याध्ययन में विशेष श्रम किया, तथा निजू स्वतंत्रता भी कम न दी, तब विना मनमाना संग पाए जीवन-भर की प्रसन्नता क्या आकस्मिक संबंध-मात्र से निश्चितरूपेण प्राप्य होगी ? फिर इस राजकुमार में सिवा राज्य-लाघव के क्या कोई और दोष आपको तिल-मात्र भी दिखता है ? मेरे देखने में तो इनके सामने चतुर्थांश गुणी भी कोई राजकुमार क्या, कोई भी नवयुवक न निकला ।

सम्राज्ञी—बात तो बेटी ! यही है। मैं तेरे विचारों पर दंश नहीं

दे सकती, वरन् ऐसे गुणी नवयुवक के चुनने पर तुझे बधाई देती हूँ। आशा है, तेरे पिता के कहने पर वह स्वयं अथवा उसका पिता मान अवश्य लेगा।

सुनंदा—आशा तो मुझे भी ऐसी ही है, किंतु बिनती यह है कि कोई दबाव न डाला जाय, नहीं तो बना-बनाया सारा खेल बिगड़ जायगा।

सम्राज्ञी—इसके विषय में मैं तेरे पिता से कह-सुन रक्खूँगी। आशा है, तेरी इच्छा पूर्ण हो जायगी।

सुनंदा—इतनी और आज्ञा हो जाय कि मेरी कार्यवाही पूर्णतया क्षमा की जाती है।

सम्राज्ञी—मैं न केवल क्षमा-प्रदान करती, वरन तुझे बधाई भी देती हूँ।

सुनंदा—(माता के चरणों पर सिर रखकर और उठकर) बड़ी ही कृपा हुई। आपकी उदारता से ऐसी ही आशा थी।

अनंतर सम्राज्ञी ने सम्राट् से भी उचित अवसर पर यह सारा ब्योरा कह सुनाया, और उन्होंने भी बहुत कहा-सुनी के पीछे यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया, यद्यपि पहले उन्हें क्रोध भी आ गया था। अनंतर महा-मंत्री कात्यायन का स्मरण करके सम्राट् धननंद ने उनसे यों कथनोप-कथन किए—

सम्राट्—आर्य! एक निजू गुप्त विषय पर आपकी सम्मति वांछनीय है।

कात्यायन—जो आज्ञा देव!

सम्राट्—कुमारी सुनंदा अपने मौर्य सेनापति के पुत्र चंद्रगुप्त से विवाह करना चाहती है।

कात्यायन—है तो वह नवयुवक बड़ा गुणी, विद्वान् तथा शस्त्रा-भ्यासी वीर, किंतु उसके राज्य का आकार चिंत्य है।

सम्राट्—है तो बात यही, किंतु कन्या उस पर बहुत अनुरक्त है। उधर वह स्वयं आगा-पीछा-सा करता है।

कात्यायन—यह तो उल्टी-सी बात दिखती है देव! आखिर उसका विचार है क्या?

सम्राट्—बात तो अपने पद की अयोग्यता की आड़ में करता है, किंतु संभव है, अपने नापितवाले संबंध के कारण कुछ हिचकता हो। मौर्यों को अपने अभिजात होने का घमंड है ही।

कात्यायन—ऐसा क्या सोचेगा? इतने बड़े साम्राज्य से संबंध जुड़ने से फूले अंग न समाएगा। अपने कुटुंब के संबंध शुद्ध क्षत्रियों में बराबर होते ही आए हैं।

सम्राट्—सो तो है ही आर्य! बेटी का भी कहना है कि मौर्यों का यह विचार नहीं है, किंतु मेरे चित्त से ऐसा संदेह जाता नहीं। कहिए, तो अभी यह बात उठाई न जाय, क्योंकि मैं समझता हूँ. शायद विवाह निर्णीत हो जाय।

कात्यायन—समझ देव! मुझे भी ऐसा ही पड़ता है। यदि आज्ञा हो, तो बालक के पिता से बात चलाई जाय।

सम्राट्—क्या हानि है; आजकल और कोई विषय तो विचारणीय नहीं है?

कात्यायन—एक ही बात है—मंत्री शकटार न जाने क्यों अपना पद त्यागकर चले गए। जब से गए, तब से पता भी न चला कि कहाँ समा गए?

सम्राट्—बात क्या हुई?

कात्यायन—दूतों आदि से ज्ञात हुआ है कि उस दिन जो चाणक्य का प्रपंच हुआ था, वह उन्हीं का किया हुआ था। क्षमा माँगकर बिनती करता हूँ कि थोड़े-से अपराध पर उन्हें महामंत्री के पद से च्युत करके कारागार में डालना योग्य न था, और यदि डाले गए थे, तो चाहे मुक्त कर दिए जाते, किंतु फिर से मंत्री न बनाना था।

सम्राट्—ऋषिवर! आपने तो पहले भी इन दोनो विषयों पर यही सम्मति दी थी, किंतु मैं एक बार क्रोधावेश में आ गया, और

द्वितीय बार उनकी भारी प्रवीणता से प्रसन्न होकर उन्हें फिर से मंत्री बना बैठा।

कात्यायन—जब उनका विचार था, और है कि उनके कारावासी होने से ही पुत्र मरे, तब वह राजभक्त कैसे हो सकते थे? उनका विचार विष्णुगुप्त चाणक्य से देव का वैर कराने का समझ पड़ता है।

सम्राट्—आर्य! वह एक साधारण अध्यापक कर ही क्या सकता है?

कात्यायन—ऐसा न सोचा जाय दीनबंधो! वह बड़ा ही प्रवीण, उद्योगी, उत्साही और कार्यनिष्ठ ब्राह्मण है। आर्य शकटार ने देव की शत्रुता के निमित्त उसे निर्वाचित करने में भूल नहीं की। अब वह तक्षशिला चला गया है, जहाँ अपना अधिकार है नहीं। उधर यवन सम्राट् अलिकसुंदर का आक्रमण संभव है। इसी विचार से मैं दो वर्षों से देव की सेना पूर्णता के साथ सन्नद्ध कर रहा हूँ।

सम्राट्—तो क्या आपका विचार है, शकटार उधर ही गए होंगे?

कात्यायन—मुझे तो इस बात का पूर्ण विश्वास है, और मैंने उधर गुप्तचर भी भेज रक्खे हैं।

सम्राट्—क्या यह कोई चिंत्य विषय है?

कात्यायन—अभी तो क्षुद्र है, किंतु समय पर चिंत्य हो सकता है। आर्य शकटार और चाणक्य मिलकर बहुत कुछ कर सकते हैं।

सम्राट्—क्या स्वयं आपकी राजभक्ति, प्रगाढ़ प्रवीणता तथा बल का भी सामना कर सकेंगे?

कात्यायन—चातुर्य तथा कौशल में वे मुझसे क्या कम हैं? हाँ, बल में अभी नगण्य हैं, किंतु वह बल मेरा न होकर देव का है।

सम्राट्—शक्ति तो साम्राज्य की होती है, किंतु उसे सफल बनाने को आर्य का-सा कुशल महामंत्री भी आवश्यक है।

कात्यायन—जब तक देव की ऐसी कृपा है, तब तक यदि ईश्वर ने चाहा, तो कल्याण ही रहेगा। अभी कोई चिंता नहीं है।

सम्राट्—अच्छा, फिर मौर्य सेनापति का मामला हाथ में लीजिए।

कात्यायन—जो आज्ञा।

इस प्रकार संभाषण करके महामंत्री महोदय ने अपनी कुटी में जाकर, मौर्य सेनापति विशालगुप्त का स्मरण करके उनसे इसप्रकार संभाषण किया—

कात्यायन—कहिए, सेनापति महोदय! आपके दल की आजकल क्या दशा है? सब ठीक-ठाक है न?

मौर्य सेनापति—आर्य की कृपा से सेना का उत्कर्ष दिन दूना, रात चौगुना बढ़ रहा है। आर्य महासेनापति महोदय भी हम लोगों पर बड़ी कृपा रखते हैं। साम्राज्य की सेना उन्नतिशील है।

कात्यायन—मैंने जब-जब दो-चार बार इन दिनों उसका निरीक्षण किया, तब भी उसे ठीक पाया। महासेनापति ने भी यही मत प्रकट किया। सम्राट् को आप लोगों के परिश्रम तथा कौशल से प्रसन्नता है।

मौर्य सेनापति—बड़ी ही कृपा हुई आर्य!

कात्यायन—एक बात निजू भी आपसे पूछना थी।

मौर्य सेनापति—जो आज्ञा आर्य!

कात्यायन—आपके सुपुत्र चंद्रगुप्त ने, सुना, शस्त्र तथा शास्त्र, दोनो में अच्छी प्रवीणता उपार्जित की है।

मौर्य सेनापति—यह आर्य की अकथनीय कृपा है कि एसा उदार मत प्रकट किया जा रहा है। अभी उसकी अवस्था ही क्या है? हाँ, यदि इसी प्रकार अध्ययन लगन के साथ चलता गया, तो संभव है, समय पर अच्छी राजसेवा कर सके।

कात्यायन—ठीक कहते हो। एक बात और पूछना है कि उनके विवाह के विषय में आपकी क्या इच्छा है?

मौर्य सेनापति—अभी तो उसकी अवस्था केवल उन्नीसवें वर्ष में है। वह पूरे पच्चीस वर्ष ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करके तब ऐसे विषयों पर विचार करना चाहता है। दो ही तीन दिन हुए, उसने उस गुप्त विषय पर मुझसे कथनोपकथन भी किए थे।

कात्यायन—है तो आपका विचार शुद्ध और शास्त्रानुकूल, किंतु एक भारी प्रश्न भी इसी से इन दिनों संबद्ध हो गया है।

मौर्य सेनापति—अभी यह बात मेरी समझ में नहीं आई। कुछ विशेष प्रस्फुटन की प्रार्थना करूँगा।

कात्यायन—बात है तो बहुत गोप्य, किंतु विश्वस्त भाव से बतलाता हूँ कि स्वयं राजकन्या का संबंध यदि उनसे सोचा जा सके, तो संभवतः आपको पूर्ण प्रसन्नता होगी। स्वयं राजमहिषी आपके सुपुत्र के सद्गुणों से बहुत प्रसन्न हैं, और इस विषय पर वह शायद देव से प्रार्थना करें।

मौर्य सेनापति—इस आज्ञा से मेरा आशा से भी बढ़कर मान होना तो प्रत्यक्ष ही है, और मैं आर्य को अनेकानेक धन्यवाद देता हूँ, तथापि पच्चीस वर्ष की अवस्था से पहले विवाह करने में शास्त्रीय मर्यादा का उल्लंघन हो जायगा। आर्य-से महर्षि की सेवा में मेरे-से अनभिज्ञ को शास्त्रीय विचारों का स्मरण दिलाना सर्वथा अयोग्य है। इतना ही इसमें दोष है। राजकुमारीजी की अवस्था ऐसी है कि साल-दो-साल से अधिक विवाहार्थ रुकना उनके लिये कुछ अनुचित भी दिखेगा। जब बालक उचित समय-पर्यंत ब्रह्मचर्य-व्रत-पालन पर कटि-बद्ध है, तब पिता के लिये उसके प्रतिकूल आज्ञा देना भी अयोग्य होगा।

कात्यायन—कथन तो आपका शास्त्रानुकूल तथा अतर्क्य है, किंतु संसार में विवाह सभी अवस्थाओं में हुआ करते ही हैं। आप स्वयं विचार कर लीजिए कि इस गुरुतम संबंध से आपकी कितनी मान-वृद्धि होगी? ऐसे अवसर पर शास्त्रीय मर्यादा की आड़ लेने से संभवतः राजकीय कुटुंब में आपकी ओर से जातीय विचारों का बहाना समझा जा सके। संबंध तो इस वंश के क्षत्रियों से बराबर होते आए हैं, तथापि सम्राट् के चित्त में ऐसा भ्रम पड़ सकता है। हैं मौर्य लोग अपने वंश-गौरव के पूर्ण अभिमानी, किंतु इसमें उसका विशेष पतन होता नहीं। आप इस विषय पर फिर से विचार कर लीजिए।

मौर्य सेनापति—हैं, आर्य के कथनों में बहुत कुछ सार, और मैं पूर्णतया विश्वास दिलाता हूँ कि यह जाति-संबंधी विचार न तो मेरे चित्त में हैं, न बालक के, वरन् वह राजकुमारीजी से ऐसा निवेदन भी कर चुका है। मुख्य आपत्ति शास्त्रीय मर्यादा ही की है। बालक का यह भी विचार है कि इतनी बड़ी राजकुमारी पिप्पली-वन-मात्र के राज्य से चिरकाल-पर्यंत प्रसन्न नहीं रह सकेंगी, तथा उन्हें अति शीघ्र पछताने का समय आ जायगा। ऐसी दशा में यह संबंध पति-पत्नी में से एक के लिये भी सुखप्रद न होगा। आर्य-से महान् पंडित को मैं क्या समझा सकता हूँ? आप स्वयं सोचें कि इतने उच्च संबंध पर पूर्ण प्रसन्नता न प्रकट होने के लिये बहुत बड़े कारणों की आवश्यकता है। सारे जीवन-भर दुखी रहने का भय किसे विचलित न कर देगा? मैं समझता हूँ, मेरी ओर से ऐसा उत्तर श्रीजूदेव को न्यूनाधिक अप्रसन्न अवश्य करेगा, किंतु इतना हर्ष है कि यह बात अभी तक उन्हें ज्ञात नहीं है। यदि मेरी बिनतियों को आर्य उचित समझें, जैसी कि आशा है, और सम्राज्ञी महोदया को समझाने की कृपा करें, तो इस साम्राज्य से मेरा सुखप्रद संबंध स्थापित रह सकता है।

कात्यायन—कहना आपका न्यूनाधिक उचित दिखता है, किंतु मुझे भय है कि यह मामला पहुँच देव के कानों तक चुका है। ऐसी दशा में केवल सम्राज्ञी को समझाने से काम नहीं चल सकता। मैं सोचता हूँ, जैसे विचार आपने प्रकट किए हैं, वे मूलतः स्वयं आपके न होकर हैं चंद्रगुप्त ही के, क्योंकि उनमें बाल-सुलभ उमंग विशेष दिखती है, और सांसारिक अनुभव की न्यूनता भी। क्या आप अपने पुत्र को समझा-बुझाकर सन्नद्ध नहीं कर सकते? देखिए, इस संबंध से आपके कुटुंब का भविष्य कितना समुज्ज्वल हो जायगा! जहाँ स्वीकृति से पूर्ण मान-वृद्धि निश्चित है, वहीं अस्वीकृति से न्यूनाधिक राजकोप भी असंभव नहीं। आप स्वयं अनुभवी और चतुर हैं, तथा राज्यमंडल के विचार कैसे चलते हैं, सो भली भाँति देखे-सुने बैठे हैं। मैं न्यूनाधिक

शास्त्राभ्यासी अवश्य हूँ; किंतु सम्राट् के भाव पूर्णतया मेरे विचारानुसार सदैव कहाँ चल सकते हैं ? मैं आपके ऊपर कोई दबाव नहीं डालता, वरन् आप ही की मंगल-कामना से समझाता हूँ। राजकुटुंब ने मुझसे क्रोध का विषय प्रकट भी नहीं किया है, वरन् जो कुछ कह रहा हूँ, वह केवल अनुभव के अनुसार ही।

मौर्य सेनापति—आर्य का विशाल अनुभव अपरिपक्व कौन समझ सकता है ? मेरा भी विचार चल उसी के अनुसार रहा है । फिर भी आर्य को ज्ञात ही है कि मेरे एक ही पुत्र है, जो बड़ा विनीत और पितृभक्त है । मैं उस पर कोई अनुचित दबाव डाल सकता नहीं; और डालूँ भी, तो वह माननेवाला नहीं । सारी बातों पर विचार करके मैं समझता हूँ कि मेरी राजसेवा अब चल नहीं सकती । इससे कर-बद्ध प्रार्थना करता हूँ कि मुझे प्रसन्नता-पूर्वक कृपा के साथ पिप्पली-कानन जाने की आज्ञा प्रदान कर दी जाय । जहाँ तक मैं समझता हूँ, अब मेरे लिये यही प्रार्थना योग्य है ।

कात्यायन— अपने ही अधिकार से मैं ऐसी आज्ञा नहीं दे सकता । आप अभी अपने पद पर विराजिए । मैं देव से प्रार्थना करके यथासाध्य आपका मामला प्रेम-पूर्वक सुलझा दूँगा, नहीं तो आपको गुप्त भाव से बात जना दूंगा ।

मौर्य सेनापति—बड़ी ही कृपा हुई आर्य !

यह कहकर प्रणामानंतर मौर्य सेनापति अपने हर्म्य को पधारे, तथा महामंत्रीजी ने नम्र भाव से सारा मामला सम्राट् से निवेदन कर दिया ।

सम्राट्—यहाँ तो आर्य ! मान-भंग का रूप दिखता है ।

कात्यायन—मान-भंग क्यों माना जाय ? देव ! वे लोग तो अपनी ही लघुता के कारण चिंतित हैं ।

सम्राट्—आप तो महर्षि होने से सभी पर कृपा करते हैं, किंतु मुझे इसमें राज्य का अपमान देख पड़ता है ।

कात्यायन—देव ! कृपा करना तो मेरा धर्म ही है, किंतु साम्राज्य का उत्तरदायित्व तथा कल्याण पहला कर्त्तव्य है।

सम्राट्—सो तो प्रकट ही है। साम्राज्य की शुद्ध भक्ति जिस योग्यता से आप करते हैं, वैसा क्या कोई करेगा ? मंत्रियों में आप स्वयं बृहस्पति के समान हैं।

कात्यायन—यह देव की महान् कृपा-मात्र है। मैं समझता हूँ, यदि यह विषय अपने द्वारा न उठाया जाता, तो अच्छा था।

सम्राट्—यही तो बेटी की भी इच्छा थी। किंतु मैंने सोचा, अपने द्वारा कार्य-सिद्धि तुरंत हो जायगी। यह बात उलटी पड़ गई।

कात्यायन—मैंने चंद्रगुप्त तथा राजपुत्री से भी इस विषय में संभाषण कर लिया है। जातीय प्रश्न का अस्तित्व राजकुमारी को भी नहीं समझ पड़ता। मौर्य-कुमार बेटी की प्रकृति कुछ साभिमान समझता है, तथा अपनी लघुता के कारण भविष्य का जीवन इस संबंध से सुखप्रद नहीं मानता। राजकुमारी इन दोनो विषयों पर पूर्णरीत्या आत्मप्रकृति-परिवर्तन पर भी तुली हुई हैं, किंतु चंद्रगुप्त को इस वचन पर प्राकृतिक कारणों से पूर्ण निश्चय नहीं बैठता। राजकुमारी का विचार है कि साल-दो साल के आचरण-संबंधी अनुभव से उसे निश्चय बैठ जायगा।

सम्राट्—उस क्षुद्र के हेतु अपनी कन्या का इतना यत्नशील होना तथा उसका इतना तनना मुझे असह्य हो रहा है। अब मैं सेनापति विशालगुप्त तथा उसके बेटे का मुख भी देखना सह न सकूँगा।

कात्यायन—है राजकीय पद के देखते हुए यह भाव स्वाभाविक, किंतु ऐसा करने से राजपुत्री को विशेष कष्ट संभव है, और यदि उन्होंने किसी इतर से विवाह करना अस्वीकृत कर दिया, तो उनका आगामी जीवन कंटकाकीर्ण हो सकता है। सब बातों पर पूर्ण विचार कर लिया जाय। देव ! राजपुत्री इस कुमार को चाहती बहुत हैं, और उसमें इस योग्य गुण-गण भी प्राचुर्य से हैं।

सम्राट्—यह बालवय-संबंधी लगन है, जो किसी श्रेष्ठ राज-कुमार के मिलने से हट जायगी। बेटी ऐसी हठी नहीं कि माता-पिता की आज्ञा न माने। इधर इस क्षुद्र नवयुवक का इतना दर्प मुझे पूर्णतया असह्य है।

कात्यायन—यदि देव अपने चित्त का निरोध करते, तो बेटी का हित-साधन तथा न्याय, दोनो सध सकते थे।

सम्राट्—इस विषय पर अब हठ न कीजिए, तो अच्छा है।

कात्यायन—हठ तो मैं कभी करता नहीं, केवल अपनी बुद्धि के अनुसार उचित मंत्र दे देता हूँ। अच्छा, इस विषय पर देव की अब इच्छा क्या है?

सम्राट्—मौर्य सेनापति पिप्पली-कानन जाने की आज्ञा आपसे माँगता ही था; अब उसे जाने ही दीजिए। उसका बेटा भी उसी के साथ चला ही जायगा। इन दुष्टों का पाटलिपुत्र में निवास अब मुझसे सहा न जायगा।

कात्यायन—आज्ञा देव की कुछ अपने ही लिये संदिग्ध है, किंतु न्याय के विरुद्ध नहीं दिखती।

सम्राट्—तब फिर यही हो; अब मैं उन दोनो को देख नहीं सकता। बड़े हठी तथा स्वाभिमानी हैं, और मुझे भासता ऐसा है कि उनके इस हठ में जातीय विचार लगा हुआ अवश्य है।

कात्यायन—जो आज्ञा।

इस प्रकार संभाषण करके महामंत्रीजी अपनी कुटी पर पधारे। इनसे परामर्श करके मौर्य सेनापति पिप्पली-कानन में अपनी राजधानी चलते बने, और चंद्रगुप्त राजकुमारी सुनंदा से बिना मिले ही अपने पिता के साथ चले गए। राजकुमारी उनसे मिलना अवश्य चाहती थी, किंतु यह बात राजाज्ञा के कारण अशोभन समझी गई। कष्ट विशेष हुआ, किंतु औचित्य का रूप रखने को वे दोनो विवश हो गए।

तृतीय परिच्छेद

तक्षशिला

पिप्पली-कानन में थोड़ा ही समय बिताकर चंद्रगुप्त अध्ययन-वृद्धि के विचार से पूज्य पिता की आज्ञा प्राप्त करके गुरुवर चाणक्य के इच्छानुसार तक्षशिला के महाविद्यालय में प्रविष्ट हुए। वहाँ इनकी समर-शास्त्र तथा शस्त्र-संबंधी उन्नति और भी तीव्रता के साथ अग्रसर हुई। चाणक्य भी इन्हें वहाँ पाकर फूले अंग न समाए। मंत्री शकटार पाटलिपुत्र की सेवा से त्याग-पत्र देकर सीधे तक्षशिला, चाणक्य के कुछ ही पीछे, चले गए थे। वहाँ इन दोनो ने भारतीय राजमंडल तथा प्रजा-वर्ग की प्रवृत्तियों का अध्ययन पूर्ण मनोयोग के साथ किया था। अब चंद्रगुप्त को भी वहाँ पाकर ये दोनो अत्यंत प्रसन्न हुए। कार्य करने के लिये अवकाश तथा साधन इनके पास प्रस्तुत थे, केवल अवलंबन की कमी थी, जो इस पिप्पली-वन के राजकुमार से प्राप्त हो गया। चाणक्य और शकटार, दोनो नव-नंद-वंश के घोर शत्रु थे ही, अब इन्हें चंद्रगुप्त को अपने मंत्र में केवल क्रियात्मक रूप से सम्मिलित करना-मात्र शेष था। इनके शौर्य तथा कौशल से वे दोनो पूर्णतया संतुष्ट थे ही, इन्हें केवल पूर्णरूपेण धननंद का विरोधी तथा साम्राज्य-प्राप्ति का उत्साही बनाना था। आयुध इस नवयुवक को वे बहुत श्रेष्ठ समझते थे, केवल इसमें महत्त्वाकांक्षाएँ उत्पन्न करने की देर थी। अतएव इन दोनो ने आपस में मंत्रणा करके एक दिन चंद्रगुप्त से इस प्रकार वार्तालाप किया—

चाणक्य—वत्स ! तुमको यहाँ विद्यार्थी रूप में पाकर मैं बहुत प्रसन्न हुआ हूँ। विद्या-व्यसनी, उत्साही शिष्यों को पढ़ाने से हम लोगों का भी परिश्रम सफल होता है। तुम साथ-ही-साथ शास्त्र और शस्त्र-विद्याओं में प्रवीण होगे।

चंद्रगुप्त—गुरुदेव ! यह आपकी महती कृपा-मात्र है कि मुझ तुच्छ को इतना आदर प्रदान किया जाता है, नहीं तो मुझमें ऐसी कौन-सी योग्यता है ? पाटलिपुत्र में आपकी कृपा मुझ पर सदैव रहती थी, जिससे मेरी लालसा किसी प्रकार यहाँ भी पहुँचकर एक बार फिर भवदीय शिष्यत्व में आने की बलवती थी । पूज्य पिता के वहाँ सेनापति होने से उस काल पाटलिपुत्र का त्याग मेरे लिये कुछ असुविधा की बात थी, और वह मुझे छोड़ना भी नहीं चाहते थे, किंतु घटना-चक्र-वश आप-से-आप यहाँ आने का प्रबंध लग गया ।

शकटार—राजपुत्र ! तुम्हारी योग्यता से गुरुवर के अतिरिक्त मैं भी बहुत प्रसन्न रहा करता था । राजकुमारी सुनंदा के तुम कुछ काल निजू अध्यापक रहे, जिससे अंत में तुम्हारे पिता का उस राज्य से संबंध-विच्छेद हो गया । उस विषय पर यदि हम लोग कुछ पूछना चाहें, तो उत्तर देने में संकोच तो न होगा ?

चंद्रगुप्त—साधारणतया तो यह संकोच की बात है ही, किंतु गुरुदेव से मैं कुछ भी कहने में अनौचित्य नहीं समझता । उधर आप मेरे पूज्य पिता पर बहुत कृपालु रहते थे, और मैं भी भवदीय सेवा में प्रायः उपस्थित होकर कृपा के कारण आपको पितृव्य के समान मानता आया हूँ । ऐसी दशा में आप दोनो महात्माओं से कैसा भी भेद कहने में संकुचित न हूँगा, आप कोई भी प्रश्न यथारुचि पूछ सकते हैं ।

शकटार—वत्स ! यह तुम्हारी शुद्धचित्तता है कि ऐसे सुंदर कथन करते हो । यह सभी पर प्रकट है कि राजपुत्री सुनंदा के चाहने पर भी तुमने उसके साथ विवाह करना स्वीकार न किया । उस गुप्त विषय पर कुछ भी न पूछकर हम लोग केवल सम्राट् धननंद के संबंध में राजनीतिक वार्तालाप करना चाहते हैं, आत्मीय नहीं ।

चंद्रगुप्त—गुरुदेव तथा आर्य से मैं किसी भी विषय पर कोई कथन करने में संकुचित न हूँगा ।

चाणक्य—वत्स ! तुम्हारे लिये यही योग्य है । "आज्ञा गुरूणां

ह्यविचारणीया" (बड़ों की आज्ञा अविचारणीया है) की कहावत चलती ही है।

शकटार—यह तो तुम्हें ज्ञात होगा ही कि मेरे कई प्रिय पुत्र उसी धन-लोभी तथा आशुक्रोधी सम्राट् के अनुचित व्यवहारों के कारण बेचारे असमय में ही काल-कवलित हो गए। मैं उस सम्राट् का घोर शत्रु हूँ। उधर तुम्हारे गुरुदेव उस नीच वंश को राज्यच्युत करने का प्रण किए बैठे ही हैं। इन कारणों से हम लोगों से प्राचीन शुद्ध व्यवहारों के अतिरिक्त भी उस सम्राट् के विषय में कुछ भी निर्भय होकर कह सकते हो।

चंद्रगुप्त—यह बात भी है, उधर मैं अभी ऐसा नीतिज्ञ नहीं हुआ हूँ कि आप जैसे गुरुओं से भी मन की गुप्त बात कहने में संकोच करूँ। मैं तो आप महानुभावों को पितृवत् पूज्य समझता हूँ।

चाणक्य—अच्छा, तो वतलाओ कि तुम्हारे वर्तमान भाव राज-पुत्री सुनंदा तथा सम्राट् धननंद के संबंध में कैसे हैं?

चंद्रगुप्त—गुरुदेव! राजपुत्री तो मुझसे निष्कारण, निष्कपट एवं परम शुद्ध प्रेम रखती है। उससे विवाह तो मैं कुछ कारणों से नहीं करना चाहता, किंतु उसकी कृपा तथा प्रीति के कारण अत्यंत प्रसन्न अवश्य हूँ।

चाणक्य—उसके शूद्र-संभूत होने से क्या उससे विवाह तुम अनुचित नहीं समझते?

चंद्रगुप्त—समझता तो न्यूनाधिक था, किंतु राजा होने से भी कोई वंश शुद्ध क्षत्रिय माना जा सकता है।

चाणक्य—है तो शास्त्रीय कथन ऐसा अवश्य, किंतु धननंद का पिता नापित-पुत्र एवं एक क्षत्रिय रानी की जारज संतान था। उस नापित से प्रेम वैवाहिक भी न होकर अवैध-मात्र था। फिर उन्हीं दोनो ने मिलकर राजा महानंद का छल से वध किया तथा उसके बालक पुत्रों के अभि-भावक बनकर उन बेचारों का भी विनाश कर डाला। अतएव महापद्मनंद न केवल एक नापित का अवैध पुत्र था, वरन् उसके माता-पिता भी कलुषित

हत्यारे तथा छल से राज्योपार्जक थे। ऐसे मनुष्य का पुत्र धननंद क्या किसी प्रकार शुद्ध क्षत्रियों द्वारा संसर्ग्य माना जा सकता है ?

चंद्रगुप्त—मैं गुरुदेव से ऐसे गर्हित विषय पर तर्क क्या कर सकता हूँ, किंतु इतना दिखता ही है कि स्वयं महापद्म पातकी न था, न धननंद केवल जन्म के कारण पापी माना जा सकता है। ऐसी दशा में राजा होने से क्षत्रिय माना ही जायगा। फिर भी जब मेरी इच्छा इस वंश से संबंध की है नहीं, तब यह विषय अनावश्यक समझ पड़ता है।

शकटार—अच्छा, अन्य प्रकार से उनके प्रति तुम्हारा भाव कैसा है ?

चंद्रगुप्त—मेरे विचार में वह कुटुंब धनलोभी और अभिमानी है। यदि मैंने वह संबंध स्वीकार न किया, तो मेरे पिता का क्या दोष हुआ, जो वह निष्कारण पदच्युत किए गए ? अब भविष्य में पिप्पली-कानन-राज्य के संबंध में भी कोई बखेड़ा उठे, तो असंभव नहीं, क्योंकि नवनंद-वंश कई जनपद छीन चुका है। मेरे पिता के-से लघु राज्यों के छीनने में उसे क्या संकोच हो सकता है, क्योंकि मनमैली का कारण उपस्थित है ही, तथा साधारण छोटे राज्य साम्राज्य की सहायता समय पर सेनाओं से जो किया करते हैं, वह बात पिप्पली-कानन के संबंध में मनोमालिन्य के कारण हो सकती नहीं ?

चाणक्य—यह तो हुआ राजनीतिक प्रश्न, साधारण व्यवहार के विषय में धननंद के प्रति तुम्हारी धारणा कैसी है ?

चंद्रगुप्त—मैं उनसे न विशेष प्रसन्न हूँ, न अप्रसन्न ही। यदि वह मुझसे उचित व्यवहार स्थापित करें, तो कोई बखेड़ा न हो, किंतु मुझे उनसे ऐसी आशा नहीं है।

चाणक्य—अच्छा, सप्तसिंधु के विषय में तुम्हारी राजनीतिक धारणा कैसी है ?

चंद्रगुप्त—इस पर मैं कोई विशेषज्ञ नहीं हूँ; मोटे प्रकार से केवल इतना समझता हूँ कि हमारे तक्षशिला के स्वामी झेलमनरेश पौरव

(पोरस) के राष्ट्रीय (गवर्नर, उपरिक)-मात्र होकर उनसे शत्रुता करने में अशुद्ध मार्ग के पथिक दिखते हैं। उनका बेटा अंभि अपने ही विद्यालय में पढ़ता भी तो है।

चाणक्य—उसका तो इसी वर्ष अवभृथ-स्नान भी हो जायगा।

चंद्रगुप्त—इस प्रांत के राजमंडल का कुछ विवरण गुरुदेव प्रकट कर सकते, तो बड़ा ही रोचक विषय रहता।

चाणक्य—मैंने तथा आर्य शकटार ने इन दिनों इस विषय पर न्यूनाधिक अन्वेषण अवश्य किया है। आप ही कुछ कहिए न मित्रवर!

शकटार—जैसी इच्छा। आजकल भारत पर कुछ कुदिन-से आते दिखते हैं। यवन-प्रदेश का एक विजयी शासक अलिकसुंदर (अलेक्ज़ेंडर, सिकंदर) आजकल अपनी राजधानी मक्दूनिया (मैसिडान) से विजयार्थ निकला है। वह मिस्र-देश (ईजिप्ट) जीत चुका है, और अब ईरान-सम्राट् दारा से उसका युद्ध होने वाला है। यदि वह जीता, तो भारत पर भी आक्रमण अवश्य करेगा, और यदि दारा जीता, तो वह भी ऐसा कर सकता है।

चाणक्य—ईरानी-युद्ध-शास्त्र का ज्ञान तो अपने विद्यालय में भली भाँति अवगत है, और यहाँ के शिष्य उसे जान रहे हैं, किंतु यवन-युद्ध-प्रणाली अभी जाननी शेष है। हमारे सप्तसिंधु और सिंध-प्रांतों में छोटे-छोटे राजे तो बहुतेरे हैं, किंतु पाटलिपुत्र के समान कोई भारी नरेश नहीं।

शकटार—यही तो इन दोनो प्रांतों का भारी दोष है। बाहरी विजेताओं के आक्रमणार्थ तो इन्हें सदैव प्रस्तुत रहना चाहिए, किंतु न राजकीय महत्ता है, न यथावत् सहयोग।

चाणक्य—सहयोग दूर रहा मित्रवर! यहाँ तो आपसी बिगाड़ की मात्रा भी कम नहीं है।

शकटार—अभी सप्तसिंधु के प्रधान राज्यों में एक तो अपने यहाँ का तक्षशिला है, तथा दूसरा झेलम का पौरव (पोरस)-राज्य। इनके

अतिरिक्त मसागा कुछ बलशाली है, तथा पंचनद का मालवीय-प्रजातंत्र भी। सिंधु-देश का मूषिक-राज्य भी कुछ प्रभावयुक्त है। शाकल, केकठ तथा हस्ती के राज्य भी छोटे होकर हैं वीरों द्वारा परिचालित। यही दशा अपने दोनो प्रांतों की है। यदि ये सब सहयोग-स्थापन द्वारा मिलकर काम करें, तो उधर दारा तथा इधर पाटलिपुत्र को भी पद-दलित कर सकते हैं, किंतु सहयोग ही कठिन दिखता है।

चंद्रगुप्त—यदि युक्तिपूर्वक काम किया जाय, तो सभी कुछ संभव है। अभी तो विद्याध्ययन हो रहा है, यदि गुरुदेव का आशीर्वाद तथा पितृव्यजी की सहायता रही, तो सहयोग भी असंभव न होगा।

चाणक्य—धन्य वत्स ! तेरे लिये ऐसा ही उत्साह योग्य है। एक तो तुम्हारे पिता का राज्य हिमालय-प्रदेश में भी होने से तुम इस प्रांत के पड़ोसी माने जा सकते हो। फिर एक शिक्षा और गुप्तरूपेण देता हूँ कि तुम्हें यहाँ से संबंध भी स्थापित करना चाहिए। इस ओर का सर्वोत्कृष्ट और परमोत्साही नरेश पौरव (पोरस) है। उसके एक पुत्री तथा एक ही पुत्र है। वे दोनो आजकल इसी विद्यालय में शिक्षा प्राप्त करते हैं। राजकुमारी बड़ी सुंदरी तथा विद्याव्यसनी है। यदि उससे वैवाहिक संबंध की जड़ जमा सको, तो इस प्रांत में तुम्हारा भी अच्छा प्रभाव हो जाय।

शकटार—ऐसा विषय एक गुरुवर के लिये तो शिष्य को बतलाना अनुचित है, किंतु हमारे मित्र राजनीतिक पहले हैं, और शिक्षक पीछे। इसी से ऐसे विषय पर भी बेटे ! तुम्हें उपदेश दे जाते हैं।

चाणक्य—फिर भी समझे रहना वत्स ! कि कोई भद्दापन न आने पाए।

चंद्रगुप्त—जैसी आज्ञा गुरुदेव ! मैं अभी पच्चीस वर्ष की अवस्था-पर्यंत ब्रह्मचर्य-व्रत भी पालन करना चाहता हूँ।

चाणक्य—है शास्त्रों का भी यही विचार, किंतु साल-दो-साल इधर-उधर भी विवाह में हो जाय, तो दोष नहीं।

चंद्रगुप्त—जो आज्ञा गुरुदेव ! राजकुमारी दुर्धरा के भाई दुर्धर्ष से मेरा कुछ मित्र-भाव अभी से जुड़ चुका है । उसे बढ़ाकर युक्ति-पूर्वक दोनो से इस प्रकार सौहार्द स्थापित करूँगा, जिसमें उन्हें संदेह तक न हो कि मेरी कोई आकांक्षा है ।

चाणक्य—ऐसा ही तो नीति का वचन है वृषल ! मैं तेरा वास्तविक विवाह राजनीति और साम्राज्य से चाहता हूँ; लौकिक विवाह तो तुझे उसके साधन-मात्र मानने पड़ेंगे ।

चंद्रगुप्त—क्या ऐसे विवाहों में प्रेम का विषय सच्चा न होगा ?

चाणक्य—यह कौन कहता है ? अनावश्यक कुटिलता त्याज्य है ही। लौकिक विवाहों में भी शुद्ध प्रेम योग्य है, किंतु पहली प्रीति साम्राज्य से होगी ।

चंद्रगुप्त—ऐसा ही होगा गुरुदेव !

शकटार—धन्य बेटे ! अब समझ पड़ा कि समय पर तू भारत-सम्राट् होगा ।

चंद्रगुप्त—क्या आप महानुभावों की विचार-धारा इतनी दूर जाती है ?

चाणक्य—यही तो बात है वृषल ! तू वीरों में वृषभ के समान बली होगा । इसी से तुझे वृषल अभी से कहने में मुझे आनंद आता है ।

चंद्रगुप्त—जो आज्ञा । उत्साह की अवधि निम्न रखने का मैं भी अभ्यस्त नहीं हूँ ।

शकटार—जिसने उत्साह गिराया, वह स्वयं अपना शत्रु है । अपना उच्च मूल्य सबसे प्रथम अपने ही को निर्धारित करना पड़ता है ।

चाणक्य—यही बात है मित्रवर !

चंद्रगुप्त—सो तो मैं सदा से करता आया हूँ । अब और भी दृढ़ता-पूर्वक होगा ।

चाणक्य—अब आज का वार्तालाप समाप्त होता है ।

इस प्रकार कथनोपकथन के पीछे चंद्रगुप्त प्रणामानंतर वहाँ से विदा

होकर अपने पठन-कार्य में लगे। तक्षशिला-विश्वविद्यालय में शास्त्रों के अतिरिक्त समर तथा शस्त्र-विद्या की बहुत उत्कृष्ट शिक्षा दी जाती थी, जिसके कारण वहाँ सारे भारत से इतर ईरान, यूनान आदि तक के विद्यार्थी पढ़ने आते थे। चंद्रगुप्त के समय वहाँ १०३ राज-पुत्र विद्या-प्राप्ति में संलग्न थे। तक्षशिला एक बहुत सुंदर पत्तन (शहर) था, जिसमें दो-दो, तीन-तीन खंडों के सैकड़ों हर्म्य थे, जिनमें गवाक्षों, अलिंदों, मुखालिंदों, चतुष्कों आदि का बाहुल्य था। प्रमद वन भी उनमें बहुतायत से थे। नगर-निवासी रेशमी वस्त्रों आदि का प्राचुर्य से प्रयोग करते थे। पण्यवीथी आदि सुंदर-सुंदर बनाई गई थीं, तथा अच्छे-अच्छे पण्यों में भाँति-भाँति की वस्तुएँ देश-देश से आ-आकर बिका करती थीं। नगर-निवासी सधन, सबल, सत्यवादी और सुंदर थे। नगर में एक दीर्घाकार सरोवर भी था, जिसमें भाँति-भाँति की नौकाएँ पड़ी रहती थीं। उनमें चढ़-चढ़कर लोग प्रातः और सायंकाल जलाशय पर सैर करने जाया करते थे। स्नानादि का अच्छा प्रबंध था, तथा ताल में रंग-रंग के कमल फूले हुए थे। सरोवर में वनज-वन इतना गहन और विशाल था कि लोग वहाँ नौकाओं पर विशेष आनंद पाते थे। मधु-मक्षिकाएँ उन कमलों से जो मधु एकत्र करके छत्तों में रखती थीं, वह बड़ा ही स्वादिष्ट और लाभकारी होता था, तथा नेत्रों में लगाए जाने से कई प्रकार के रोगों का भी शमन करता था। इसे कमल-मधु कहते थे। विद्यार्थीगण भी सरोवर तथा वनों में सैर को अथवा मृगयार्थ जाया करते थे।

चंद्रगुप्त ने जिस काल उचित अवसर ताड़कर राजकुमारी दुर्धरा के ध्यान-पूर्वक दर्शन किए, तो उसका जगन्मोहक सौंदर्य देखकर इनका चित्त बहुत प्रसन्न हुआ, तथा गुरुदेव की तद्विषयिणी आज्ञा को आपने अत्यंत सुखप्रद माना। राजकुमारी क्या थी, मानो विधाता ने अपनी रचना-संबंधी सारी चतुरता को मूर्तिमती करके संसार को अपने प्रकांड कौशल का प्रमाण दिखलाया था। रंग उसका स्वर्णाभा धारण किए हुए चंपक को लजाता था। वह न तो स्थूल थी, न दुर्बल, न ठमकी और न बहुत

लंबी। उसके अंग-प्रत्यंग सब साम्य की प्रतिमूर्ति-से थे। उसका ललाट उन्नत था, नेत्र कुछ बड़े और चेहरा कुछ गोलाई लिए हुए थोड़ा-सा लंबा भी था। दंतों में चौके की चमक चित्ताकर्षिणी थी। बत्तीसों दाँत एकरस तथा परम सुंदर थे, और मुख से पद्म की सुगंध-सी आती थी। मस्तानी चाल गज-गति को लजाती थी, तथा सिंह के समान कटि अपूर्व शोभा बढ़ाती थी। लघु नथ का मोती नासिका की श्वास से कुछ कंपन प्राप्त करता हुआ उसके बोलने में होठों पर विहार करता था। उसका मौक्तिक दंतों की शोभा से होड़ लगा-लगाकर मानो पराजय से बार-बार पीछे हट जाता था। वह पाटंबरी स्तनांकुश धारण किए हुए थी, तथा केशाच्छादन से वेणी को और भी अकथनीय शोभा प्राप्त होती थी। मणि-मुक्ताओं से गुथी हुई वेणी कटि-प्रदेश पर विहार करती थी। अवस्था उस रूप-राशि की पंद्रहवें वर्ष में थी।

यह राजकुमारी दुर्धरा अपने भ्राता दुर्धर्ष के साथ उस काल विद्यालय के दो दलों में खेले जानेवाले चौगान में मन लगाए हुए थी, जिससे चंद्रगुप्त को भली भाँति देखने का उसे बहुत अच्छा अवसर प्राप्त हो गया। इनका चित्त उसके रूप से ऐसा विमोहित हुआ कि यह आपे को ही भूल-से गए। अनंतर आप मित्र दुर्धर्ष के दृष्टि-पथ में जान-बूझकर पड़े, और उनसे इनका नमस्कारादि-गर्भित अभिवादन हुआ। अनंतर उन्होंने अपनी स्वसा से भी इनकी चिन्हार करा दी। इन दोनो ने भी आपस में नमस्कार करके स्वल्प वार्ता के पीछे चौगान देखने में फिर से मन लगाया। दोनो ओर से चार-चार खिलाड़ी खेल रहे थे। वे लोग एक-एक घड़ी के पीछे घोड़े बदलते जाते थे। जो अवसर पाता था, वही गेंद को खेल की यष्टियों के सहारे अगोटकर आगे बढ़ाने का प्रयत्न करता था। यष्टिकाओं के प्रहार उसी गेंद पर बराबर हुआ करते थे, जिससे समय-समय पर तड़ातड़ शब्द होते थे। घोड़े ऐसे शिक्षित थे कि गेंद के उचित दावों पर सवार को आप-से-आप भी पहुँचाया करते थे। लगाम के थोड़े से इंगित से भी अवसर कभी न चूकते थे। सवार लोग अपने कार्य में ऐसे प्रवीण थे कि

घोड़ों के विविध कोणों के अनुसार बार-बार चालें बदलने से भी उनके आसन थोड़ा भी न डिगते थे। इस प्रकार प्रायः दो घड़ी खेल होकर समाप्त हो गया, और सारे द्रष्टागण अपने-अपने स्थानों को पधारे। राजकुमार दुर्धर्ष ने चंद्रगुप्त को अपने साथ जलपानार्थ जाने के लिये सहठ निमंत्रित किया, जिससे दिखलाने-भर को विवश होकर आप उनके स्थान पर जाकर उपाहार में सम्मिलित हुए। राजकुमारी ने भी चंद्रगुप्त से उनका सारा वृत्तांत बातों-ही-बातों पूछा, और इन्होंने सप्रेम उसका वर्णन किया। तीनो ने कुछ समय तक विद्या-संबंधी तथा अन्यान्य विषयों पर वार्तालाप किया। अनंतर और भी बातें होने लगीं।

दुर्धर्ष—चंद्रगुप्तज़ी! आपने युद्ध-शास्त्र तथा शस्त्र-विद्या में अच्छी प्रवीणता उपार्जित की है। ऐसे कौशल की प्राप्ति भला किस युक्ति से कर सके हैं?

चंद्रगुप्त—राजकुमारजी! मैंने बाल वय से ही इन विषयों पर न्यूनाधिक प्रयत्न किया है। फिर भी अद्यापि कोई विशेष योग्यता संपादित नहीं कर सका हूँ। स्वयं आपका ऐसा कौशल मुझसे विशेष है।

दुर्धर्ष—यह तो आपका कथन-मात्र है। मैं भला क्या जानता हूँ। यही कुछ-कुछ ज्ञान उपार्जित करना ही पड़ा है, क्योंकि युद्धों में हम सबों को आगे-पीछे सम्मिलित होना ही पड़ेगा।

चंद्रगुप्त—आपकी अवस्था तो बीसवें-इक्कीसवें वर्ष में होगी?

दुर्धर्ष—दो महीनों में पूरे इक्कीस वर्षों का हो जाऊँगा।

चंद्रगुप्त—आपके कोई और भाई-बहन हैं?

दुर्धरा—राजकुमार! हमीं दोनो अपने पिता की संतान हैं। सुनती हूँ, आपके तो कोई भाई-बहन नहीं है।

चंद्रगुप्त—यही बात है राजकुमारीजी! क्या मैं पूछ सकता हूँ कि परसाल अपने भाई के अवभृथ-स्नान करने के पीछे अपने पठन का प्रबंध आप क्या करेंगी? क्या फिर भी विद्यालय में रहेंगी?

दुर्धरा—मैंने अभी तक पढ़ा ही क्या है; अभी दो-तीन वर्ष और

यहीं विद्याध्ययन की इच्छा है। आपके इस विषय में क्या विचार हैं ?

चंद्रगुप्त—मैंने पाटलिपुत्र में कई वर्ष पढ़ा था। अब एक ही वर्ष पढ़ कर आपके भ्राता के साथ मेरा भी यहाँ अवभृद-स्नान हो जायगा। यहाँ तो ऐसे समय में युद्ध-शास्त्र में निष्णात विद्यार्थियों को धनुष, वाण, खड्ग और कवच भी विद्यालय की ओर से मिलते हैं।

दुर्धर्ष—उनके उत्साहार्थ होता तो ऐसा ही है। यह विश्वविद्यालय युद्ध-शास्त्र पर विशेष ध्यान देता है।

दुर्धरा—होती तो अच्छी पढ़ाई इतर शास्त्रों की भी है।

चंद्रगुप्त—इसमें क्या संदेह है ? स्त्रियोंवाले विषयों पर भी विद्यालय अच्छा ध्यान देता है। इसमें आपकी क्या सम्मति है ?

दुर्धरा—मैं कुछ अधिक तो अभी जानती नहीं, किंतु समझ पड़ता है कि हम लोगों के विषयों पर भी विशेष ध्यान दिया जाता है।

चंद्रगुप्त—भोज्य पदार्थों के बनाने की विधि भी शायद बतलाई जाती हो।

दुर्धरा—यह आपने कैसे जाना ?

चंद्रगुप्त—आज के उपाहार में ही कितने प्रकार के अच्छे-से-अच्छे भोज्य पदार्थ न आए थे ? इतना श्रेष्ठ उपाहार हुआ कि संध्यावाला आज का भोजन संभवतः आधा कर देना पड़े।

दुर्धरा—यह नहीं है राजपुत्र महोदय ! हमारा उपाहार वैद्यक के नियमों पर ऐसा बनाया जाता है कि पचती नहीं घड़ियों में जाय। संध्या-वाले भोजन के समय तक कर्कश क्षुधा फिर से लगेगी।

चंद्रगुप्त—अनेकानेक धन्यवाद ! तब तो मैं चाहूँगा कि हम लोगों के ऐसे उपाहार-संबंधी व्यवहार प्रति सप्ताह एक-एक बार होना अच्छा है। कल या परसों आप दोनो मेरे यहाँ अवश्य अनुग्रह करें, और प्रार्थना मेरी यह है कि न केवल इस बार, वरन् प्रति सप्ताह एक-दो बार ऐसी कृपा अवश्य हुआ करे।

दुर्धर्ष—क्या हानि है ? प्रति सप्ताह एक बार आप यहाँ कृपा

किया कीजिएगा, तथा इसी प्रकार हम दोनो आपके यहां दर्शन-लाभ किया करेंगे ।

चंद्रगुप्त—बड़ी ही दया हुई राजपुत्र महोदय !

दुर्धर्ष—क्या आप कुछ गान-वाद्यादि में भी रुचि रखते हैं ?

चंद्रगुप्त—इन विषयों में विशेष प्रवेश तो है नहीं, किंतु न्यूनाधिक अभ्यास किया है ।

दुर्धरा—तब फिर कुछ सुनाइए क्यों न ?

चंद्रगुप्त—यह व्यवहार इकांगी न होकर दोनो ओर से होता है । आप लोगों को तो विद्यालय में भी इसकी शिक्षा मिलती होगी ।

दुर्धरा—है तो ऐसा ही, किंतु मुझे कोई विशेष प्रवीणता नृत्य अथवा गान-वाद्य में नहीं है ।

चंद्रगुप्त—नृत्य एकाकी-मात्र जानती हैं या मिलित भी ?

दुर्धरा—मिलित नृत्य का चलन यवनों में है; यहाँ भारत में तो एकाकी नृत्य चलता है ।

चंद्रगुप्त—है तो यही बात ।

दुर्धर्ष—अच्छा, तो कोई गाना सुनाइए न राजकुमारजी !

चंद्रगुप्त—जो आज्ञा । (एक तानपूरे के सहारे गाता है ।)

सकूँ कर क्योंकर तेरा मान ?
तू है रूप-शील-गुण-प्रतिमा, मैं मूरख नादान ।
तेरी विद्या-विनय देख यदि वारूँ सकल जहान,
तो भी तिल-भर मोल चुकै नहिं, सोचूँ कौन विधान ।

दुर्धर्ष—गाना तो आपने बहुत बढ़िया गाया । क्या किन्हीं वाद्यों आदि का भी अभ्यास है ?

चंद्रगुप्त—मृदंग, सारंगी (रुद्रवीणा), वीणा आदि का कुछ अभ्यास है, किंतु कथन-मात्र को ।

दुर्धरा—गाना तो अच्छा सुनाया; क्या कोई वाद्य भी होगा ?

चंद्रगुप्त—यदि प्रस्तुत हों, तो मँगाइए न ।

दुर्धरा—जैसी इच्छा (यह कहकर वह ये वाद्य मँगाती है ।)

चंद्रगुप्त प्रायः दो घड़ी-पर्यंत अपनी श्रेष्ठ कला का प्रदर्शन करते रहे, अनंतर समय विशेष बीत जाने के कारण दोनो मित्रों से प्रार्थना करके अपने आश्रम का रास्ता लिया। उस दिन ये तीनो व्यक्ति एक-दूसरे मे बहुत प्रसन्न हुए ।

चतुर्थ परिच्छेद

चंद्रगुप्त और दुर्धरा

तक्षशिला का विद्यालय उत्तमता-पूर्वक चल रहा था। एक बार उसमें कृत्रिम युद्धों का अवसर आया, जिसमें चंद्रगुप्त ने खड्ग, पटा, भाला आदि में बहुत बढ़िया काम दिखलाए। अनंतर कुछ प्रवीण विद्यार्थियों को पाँच-पाँच सौ योद्धा दिए गए, जिनके द्वारा उनके कृत्रिम युद्ध कराए गए। उनमें चंद्रगुप्त का पद सबसे ऊँचा आया। अनंतर एक सहस्र सैनिक लेकर आपने एक विपक्षी प्रवीण विद्यार्थी को, उसके पास दो सहस्र सैनिक रहते हुए भी, पराजित कर दिया। जिन विद्यार्थियों ने राजकुमार दुर्धर्ष को सुगमतापूर्वक हराया था, उन्हें मौर्य कुमार ने अनायास ही पराजित किया। इनकी ऐसी महती प्रवीणता देखकर एक बार उपाहार के अवसर पर दुर्धरा तथा दुर्धर्ष, दोनो ने इनकी बड़ी प्रशंसा की। इसके लिये आपने उन्हें अनेकानेक धन्यवाद दिए। दुर्धर्ष ने इनके ऐसे कौशल से बड़ा ही आश्चर्य प्रकट किया, तथा इस प्रकार वार्तालाप होने लगा—

दुर्धर्ष—मित्रवर! आपकी योग्यता देखकर मुझे बड़ा ही संतोष प्राप्त हुआ है। हैं तो आप मुझसे छोटे, किंतु प्रवीणता में बहुत ज्येष्ठ हैं।

चंद्रगुप्त—राजपुत्र! यह आप क्या कहते हैं? किसी विषय में कोई भारी कौशल मुझमें कौन-सा है? यही गुरुओं की कृपा से थोड़े-बहुत काम जान गया हूँ।

दुर्धरा—थोड़े-बहुत क्यों, आपकी प्रवीणता तो युद्ध-शास्त्र में यहाँ सर्वोत्कृष्ट है, यद्यपि पढ़ते हुए इस विद्यालय में आपको पूरा एक वर्ष भी नहीं हुआ।

चंद्रगुप्त—राजकुमारीजी! यह आपकी कृपा है कि ऐसे विचार प्रकट किए जा रहे हैं। युद्ध-शास्त्र तथा शस्त्रास्त्र-प्रहार के काम में चिर-

काल से सीखता अवश्य आया हूँ। पूज्य पिताजी बाल वय से ही प्रारम्भ करके परसाल तक सिखलाते रहे और पाटलिपुत्र-महाविद्यालय में भी मैंने पाँच वर्ष परिश्रम किया था।

दुर्धर्ष—यदि अपराध क्षमा हो, तो एक विनती करूँ?

चंद्रगुप्त—जो इच्छा हो, बराबर निःसंकोच भाव से कहिए।

दुर्धर्ष—राज्य तो आपका बहुत बड़ा है नहीं। यदि हमारे पौरव-राज्य में सामरिक विभाग के कार्य का किसी नियम पर परिचालन या निरीक्षण स्वीकार कर सकें, तो पिताजी की आज्ञा प्राप्त करके इसका प्रबंध होने से आपकी विशेष कृपा मानी जा सकती है। मैं सेवक-रूप में कोई पद ग्रहण करने की आपसे प्रार्थना न करके केवल कृपा का प्रयोग चाहता हूँ। पारिश्रमिक भवदीय इच्छानुसार जिस रूप में चाहें, नियत किया जा सकता है। हैं आप स्वयं दो राज्यों के एकमात्र उत्तराधिकारी, तथापि आपके पूज्य पिता नंदराज्य में सेनापति थे ही। हमारा राज्य उसके देखते लघु है। अतएव केवल कृपा के रूप में यह प्रार्थना करता हूँ।

चंद्रगुप्त—युवराज महोदय! आपके इस कथन से मेरा निरादर न होकर मान ही है, तथापि अभी कुछ काल मुझे विद्याध्ययन में पूरा समय लगाना है। उसके पीछे भी मित्र-भाव से कोई भी सम्मति-दान अथवा कुछ कार्य निरीक्षण-रूप में भी प्रसन्नता-पूर्वक हो सकता है, तथापि अपने ही कार्यों से मुझे इतना समय नहीं बच सकेगा कि भवदीय अधिकार में कोई उच्च पद भी ग्रहण करूँ। कथन आपका है महत्ता-प्रदायक तथा कृपा-गर्भित, किंतु मेरी भविष्य की कार्य-प्रणाली के विचार इतना समय लेंगे कि आपकी कही हुई सेवाओं के निमित्त अवकाश न मिल सकेगा, ऐसा मैं समझता हूँ। तो भी इस प्रकार मान-पूर्ण संभाषण के लिये मैं आपको प्रेम-पूर्वक श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ।

दुर्धरा—राजपुत्र महोदय! आपकी महती योग्यता देखते यह कहना पड़ता है कि यदि हमारे राज्य में थोड़ा भी समय दे सकते, तो बड़ा काम हो जाता। अभी साल-दो साल विद्या-लाभ के समय पूर्ण स्वतंत्रता रखिए,

किंतु पीछे थोड़ा भी अवकाश भाईजी के लिये सधन्यवाद स्वीकार्य होगा। आपका-सा गुणी और कहाँ मिला जाता है ?

चंद्रगुप्त—राजपुत्रीजो ! आपकी समादर-पूर्ण कृपा के लिये शतशः धन्यवाद, किंतु इस प्रकार के निबंधार्थ मुझे समयाभाव रहेगा, ऐसा निश्चय है। फिर भी मित्रता-गर्भित सहायता से कभी मुख न मोड़ा जायगा। नवनंद-वंश का साम्राज्य है। उसकी सेवा एक बात है, किंतु इस ओर ऐसा सोचना मेरे लिये ठीक न होगा, विशेषतया भविष्य-संबंधी विचारों को ध्यान में रखकर।

दुर्वर्ष—क्षमा कीजिएगा राजकुमार महोदय ! ऐसा कौन बड़ा कार्य आपको उठाना है कि प्रतिवर्ष एक-दो मास का भी अवकाश न मिल सकेगा। सेवा-भाव-गर्भित कोई कार्य आपको सौंपने का साहस मैं स्वयं नहीं कर सकता, यहाँ तो केवल मित्रता का प्रश्न है।

दुर्धरा—देखिए राजपुत्र महोदय ! अब हठ न कीजिए। हम लोग केवल इतना चाहते हैं कि हमारे-आपके राज्यों से सदैव पूर्ण मैत्री का संबंध स्थापित रहे।

दुर्धर्ष—यदि अपने राज्य में मुझी से कोई ऐसी ही सेवा लेना चाहे, तो क्या मैं नाहीं कर दूँगा ?

चंद्रगुप्त—क्षमा कीजिएगा, मुझसे पहले आपका आशय समझने में भूल हो गई। जो बात निश्चित रूप से अब कही जा रही है, उसे मैं कैसे अस्वीकार कर सकता हूँ ? आप दोनो महाशयों से शुद्ध मित्र-भाव कई मास से चल रहा है। प्रति सप्ताह सहभोज्यता भी दो-दो बार होती आई है। क्या मैं ऐसे मित्रता-गर्भित अनुरोध से पीछे हटने का विचार तक मन में ला सकता हूँ ?

दुर्वर्ष—बड़ी कृपा। अच्छा, यदि अनुचित ज्ञानेच्छा मेरी न समझी जाय, तो क्या इतना बतलाने की कृपा हो सकती है कि भविष्य की भवदीय कार्यवाही किस प्रकार चलाने का विचार है ?

चंद्रगुप्त—इस मित्रता-गर्भित प्रश्न में क्या अनौचित्य है ? गुरु-

जी की आज्ञा है कि इस वर्ष यहाँ का पठन समाप्त करके मुझे यवन-देश में जाकर यथासाध्य वहाँ का भी सैनिक प्रबंध तथा रण-कौशल अथच परिचालन-ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। इस प्रयत्न में एक वर्ष से कम न लगेगा। अनंतर इधर पलटकर सप्तसिंधु के राजमंडल में सहयोग उत्पन्न करने का प्रयत्न मुझे करना पड़ेगा। गुरुदेव की इच्छा है कि यथासाध्य सप्तसिंधु का भी बल महान् होना चाहिए।

दुर्धरा—है तो यह विषय भी बड़ा ही महत्ता-युक्त, तथापि जो विचार भाईजी ने प्रकट किया है, उससे आपके उपर्युक्त मंतव्य में भी सहायता मिल सकेगी।

चंद्रगुप्त—इसमें क्या संदेह है! यदि अनुचित ज्ञान-पिपासा न समझी जाय, तो मैं पूछूँगा कि पौरव-राज्य ने अपने तक्षशिला के राष्ट्रीय को प्रबंधार्थ इतना बड़ा प्रांत क्यों सौंप दिया कि समय पर स्वतंत्रप्राय होकर वह आपके राज्य से ही विमुख-सा हो रहा है?

दुर्धर्ष—मित्रवर! इस कुटुंब पर पूज्य पितामह के समय से विश्वास था, जिससे शनैः-शनैः इसका अधिकार-क्षेत्र बढ़ता गया, और अंत में ऐसी भारी भूल हो जाने का समय भी उपस्थित हो गया।

दुर्धरा—क्या एक वर्ष यवन-प्रांत में रहने से आपको कुछ अनौचित्य नहीं समझ पड़ता? अभी कल ही आप कह रहे थे कि अलिक-सुंदर का भारतीय आक्रमण भी संभव है।

चंद्रगुप्त—मैं तो वहाँ एक विद्यार्थी के रूप में जाऊँगा, कोई राज-नीतिज्ञ होकर नहीं। ऐसी दशा में भय की क्या बात है?

दुर्धरा—है क्यों नहीं, आपका उद्दाम देश-प्रेम क्या छिप सकेगा? उधर महत्त्वाकाँक्षाएँ भी कम नहीं हैं। ऐसी दशा में क्या किसी को संदेह नहीं हो सकता?

चंद्रगुप्त—यथासाध्य उन्हें दबाए रहूँगा। गुरुदेव की धारणा ऐसी है कि भारतीय स्वातंत्र्य स्थापित रखने को शत्रुओं की सामरिक व्यवस्था का ज्ञान परमावश्यक है। मैं भी इस विचार से सहमत हूँ।

दुर्धर्ष—बात तो बहुत पक्की है। अच्छा, आपसे एक बात और पूछूँगा कि मेरे लिये भविष्य में युद्धों में कूदना साधारणी घटनाएँ होंगी। उधर अभी समर-शास्त्र का मेरा ज्ञान आपके वर्तमान कौशल के भी समान नहीं। इसका क्या प्रबंध हो?

चंद्रगुप्त—है क्यों नहीं? आपमें न्यूनता क्या है? तो भी अपने शेष विद्यार्थी-जीवन को इसी विषय पर विशेषतया लगाने का प्रयत्न कीजिए। यदि अलिकसुंदर का आक्रमण हुआ, तो आपको युद्ध में कूदना ही होगा।

दुर्धर्ष—यही तो बात है। अब आप ही के विचारों पर अनुगमन करूँगा।

दुर्धरा—आज काम-काजू बातें ही होती आई हैं। अब प्रसन्नता-गर्भित विषय भी उठाए जायँ।

चंद्रगुप्त—जैसी इच्छा देवीजी!

दुर्धर्ष—आज वास्तव में हम लोग राज्य-संबंधी प्रबंधों की चिंता में इतने व्यस्त हो गए कि बेचारी भगिनी का चित्त ऊब गया है।

दुर्धरा—चित्त कुछ नहीं ऊबा है, बातों में विविधता भी आवश्यक होती है।

चंद्रगुप्त—अवश्य। बिना इसके विशेष एकांगीपन से लोगों में सामाजिक ज्ञान-शून्यता का दोष समझा जा सकता है। अच्छा, कहिए, क्या किसी दिन मृगयार्थ चलिएगा?

दुर्धर्ष—है तो बहुत अच्छा विचार, किंतु यह बेचारी उससे क्या आमोद-प्रमोद प्राप्त कर सकेगी?

दुर्धरा—क्यों न पा सकूँगी? दस-बीस मृगयार्थियों तथा दर्शक मित्रों के साथ चलना होगा। भोजनादि का प्रबंध रहेगा ही। मैं दो-तीन सखियों-सहित दर्शक-मंडली में सम्मिलित रहूँगी। उधर आप दोनो कुछ मृगयार्थियों के साथ आखेट में भाग लीजिएगा।

दुर्धर्ष—क्यों मित्रवर! क्या विचार है?

चंद्रगुप्त—बात तो बहुत उचित है ।

दुर्धर्ष—तब फिर करता हूँ इसका प्रबंध ।

चंद्रगुप्त—अवश्य कीजिए । विद्यालय के किसी अवकाशवाले दिन इसका आनंद लूटा जाय ।

दुर्धरा—बहुत उचित है ।

इस प्रकार संभाषण के पीछे यह मित्र-समाज उस दिन भंग हुआ, और यथावकाश मृगया का प्रबंध किया गया । दो-चार हाथी भी उसमें आए, जिनमें से एक-एक पर दुर्धर्ष और चंद्रगुप्त एक-एक मृगयार्थी अनुगामी के साथ बैठे । उधर राजकुमारी दुर्धरा दो सखियों के साथ एक ढलवाँ टीले पर कुछ सेवकों तथा लक्ष्य-बेधक अनुगामियों की संरक्षकता में मृगया-निरीक्षणार्थ विराजीं । फलादि का खाना तथा हँसी-दिल्लगी चलने लगी । हाँका एक पहर से प्रायः डेढ़ कोस जंगल घेरकर हो रहा था । तीन सिंह समय-समय पर निकले, जिनमें एक-एक दोनो मित्रों ने मारा, तथा एक निकल गया । सारी मृगया-मंडली सुख-यात्रा के भी पीछे प्रसन्नता-पूर्वक विद्यालय को पलट गई । अनंतर एक दिन राजकुमारी दुर्धरा ने एक प्रिय सखी के साथ सरोवर में सैर करने को एक छोटी नौका पर चढ़कर जाने का विचार किया । पहले रथारोहिणी होकर ये दोनो कुछ काल नगर-निरीक्षण करती रहीं । इन्होंने भाँति-भाँति के चार-छः पुष्पाभूषण मोल ले-लेकर अपने-अपने शरीर पर सजाए । अनंतर सरोवर की सैर को पधारीं । एक तो बड़ा सर था, जिसमें कमल बहुतायत से थे । दूसरा ताल प्रायः दो सौ हाथ लंबा तथा डेढ़ सौ हाथ चौड़ा था । उसके चारो ओर ऊपर भी मिला हुआ एक बहुत बड़ा लोहे की जाली का पिंजड़ा बना हुआ था । उसकी जाली की दीवारें प्रायः पाँच-पाँच हाथ ऊँची थीं, और उसमें दो मोटे खंभे गड़े हुए थे, जिनकी ऊँचाई प्रायः बारह-बारह हाथ थी । उन्हीं के सहारे चारो ओर की दीवारों पर जाली मढ़ी हुई थी । इस प्रकार उस भारी पिंजड़े के नीचे पूरा ताल आ गया था, और उसके किनारों पर तालाब के बाहर तथा पिंजड़े के अंदर इधर-

उधर सात-आठ झाड़ीवाले पेड़ लगे हुए थे, जिनमें से दो बाँसों के भी झुर-मुट थे। उस जलाशय में पच्चीस-तीस जातियों के छोटे-बड़े प्राय: ५०० पक्षी रहते थे, जो सरोवर में तैरा करते तथा झाड़ियों में भी इच्छानुसार घुसे रहते अथच अंडे आदि भी देते थे। उनमें तीन काले हंस थे, तथा पाँच श्वेत पंखोंवाले। काले हंसों की शोभा बहुत भली लगती थी। उन हंसों भी बड़े पाँच पक्षी थे, जिनके पंख श्वेत थे, तथा चोंचें भारी। पंजे भी उनके सबल थे। इन पक्षियों से छोटे पंद्रह-बीस और कुछ बड़े कई जातियों के पक्षी थे, जिनके रंग विविध प्रकार के थे। कई जातियों के सारस, लेदुके, वक, पारावत, कारंडव, जल-कुक्कुट आदि भी वहीं प्रस्तुत थे। विविध जातियों के बहुरंग पक्षी वहाँ कलोल किया करते थे। उनके पंखों, रंगों, चोंचों आदि की बनक अनेक प्रकारों की होने से दर्शकों को बहुत आनंद देती थी। चक्रवाक भी वहाँ बहुतेरे थे, तथा मत्स्यादि के लिये विविध प्रकार के बक योग-साधन का उदाहरण दिखलाया करते थे। कई रंगों के शुक भी, वहीं से निकट, अन्य भारी-भारी पिंजड़ों में रहते थे, जिनके लिये रहने को घर तथा बैठने को ऊँचे-नीचे स्थान बने हुए थे। हरे सुग्गे तो बहुतायत से थे ही, अपितु कुछ श्वेत और लाल रंगों के थे, तथा कई मिश्र रंगों के भी। उनके आकार भी छोटे-बड़े कई प्रकार के थे। एक जाति के ऐसे पक्षी थे, जो मनुष्य से भी कुछ ऊँचे थे, तथा उड़ने के स्थान पर चला ही करते थे। पंख उनके उड़ने के लिये न होकर केवल दिखावे को थे। ताल में एक जाति का ऐसा छोटा-सा बटेरों से कुछ बड़ा पक्षी था, जिसके पंखों के विविध रंग बहुत ही भले लगते थे। यह दशा नरों की थी। मादा उनकी नितांत साधारण थीं, जिनमें कोई सौंदर्य न था। देखने में आश्चर्य-सा होता था कि ऐसे नर-पक्षियों की मादा ऐसी भद्दी क्यों हैं? तालाबवाले उस भारी पिंजड़े में सैंकड़ों पक्षी उड़ा करते थे। उनके कलोल देखने में बहुत भले लगते थे।

कुछ पक्षी तालाब में तैरा करते तथा कुछ किनारों पर फिरते थे।

एक जाति का ऐसा ऊँचा पक्षी था, जिसके पर दुतल्ले भवन के समान ऊँचे लगते थे, तथा उसका शेष शरीर मानो तीसरे खंड पर छोटा-सा था। कुल मिलाकर वह प्रायः दो हाथ ऊँचा था। रंग उसका सफ़ेद था। अनेकानेक प्रकार के पक्षी साथ-ही-साथ उस भारी पिंजड़े में रहते थे, किंतु उनमें कभी आपस में लड़ाई नहीं होती थी, वरन् साथ-ही-साथ पचास-पचास, साठ-साठ मिलकर ताल में या उसके बाहर एक साथ बैठा करते थे। कई जातियों के पक्षियों को संग देखकर उनकी विविधता से दर्शक भी प्रसन्न होते थे। ताल में सैकड़ों पक्षी तैरा करते थे। इनके द्वारा तरंगें विविध कोणों से उठ-उठकर सैकड़ों अन्यों से भिड़ा करती थीं, जिनसे वह जल स्थिर होकर भी तरंगों का अच्छा सौंदर्य दिखलाता था।

पक्षियों का यह कौतूहल देखकर ये दोनो सखियाँ पहले ही से निश्चित नौका पर सवार होकर जलाशय पर चलीं। भाग्य-वश चंद्रगुप्त भी उसी समय एक मित्र के साथ कुछ बड़ी नाव पर चढ़कर सरोवर की सैर कर रहे थे। उनकी नौका पर एक मल्लाह भी था। अपने निम्न-दुकूल (धोती) के नीचे ये दोनो मित्र लंगोट भी धारण किए हुए थे कि यदि तैरने की आवश्यकता हो, तो दुकूल के कारण अड़चन न पड़े। इन्हें राजकुमारी की छोटी नौका देखकर कुछ भय हुआ कि कहीं थोड़ी ही असावधानी से वह जलमग्न न हो जाय। तथापि कुमारियों की स्वतंत्रता में बाधा न डालने के विचार से आपने अपनी नौका उनसे कुछ दूर इस प्रकार रक्खी, कि राजकुमारी इन्हें देख न पाई।

वायु उस काल साधारण वेग से, किंतु तो भी कुछ तीव्रता के साथ चल रही थी। समय प्रातःकाल का था। सौर किरणें सरोवर की लहरों के साथ, विविध कोणों से पड़-पड़कर, खेल रही थीं, जिससे किरणों की शोभा तालाब को उत्कृष्ट दीप्ति प्रदान करती थी। सरोवर इतना बड़ा था कि उसकी चौड़ाई प्रायः डेढ़ कोस की थी, और लंबाई दस-बारह कोस की। उससे एक छोटी-सी नदी भी निकलकर आगे बहती चली जाती थी। तक्षशिला की ओर, उसके किनारे-किनारे प्रायः दो कोस

लंबी सड़क बनी थी, जिसके दोनो ओर सघन वृक्ष आरोपित थे । इस कारण उस राजमार्ग पर सैर करनेवालों को भानु-ताप से किंचिन्मात्र कष्ट नहीं होता था । उस भारी सरोवर में यत्र-तत्र दो-चार छोटे-छोटे द्वीप भी थे, जिन पर भाँति-भाँति के पुष्प-वृक्ष लगाए गए थे । इनके कारण जलाशय की शोभा और भी बढ़ गई थी। दर्शकों के घूमने के लिये उन द्वीपों पर छोटे-छोटे मार्ग भी बनाए गए थे, जिन पर फिरकर वे लोग सुंदर-सुंदर सुमन-क्यारियों की शोभा देखते थे । उन पर नावों से उतरने को पक्के स्थान भी सुविधार्थ बनाए गए थे ।

ये दोनो सखियाँ यत्र-तत्र सविलंब सरोवर की सैर करती हुई उसके वनज-वन में पहुँचीं, जहाँ इन्होंने कई रंगों के सुंदर-सुंदर कमल तोड़े । दुर्भाग्य-वश एक बहुत बड़े रंगदार नील कमल तोड़ने के प्रयत्न में वे दोनो एक ओर ही झुक गईं, जिससे इनकी छोटी-सी नौका विचलित होकर उलट गई, और ये गहरे जल में डूबने लगीं । तैरना न जानने के कारण ये अपने को सँभाल न सकीं, और घोर विपत्ति का सामना पड़ गया ।

इनकी ऐसी भयानक दशा देखकर चंद्रगुप्त ने शीघ्रता-पूर्वक अपनी नौका बढ़ाई, तथा इन दोनो मित्रों ने अपने-अपने उष्णीश और दुकूल युग्म फेंक-फेंककर तथा जल में कूद-कूदकर उन्हें बचाने का प्रयत्न आरंभ किया । मौर्य राजकुमार के साथी ने सखी की ओर ध्यान दिया, तथा उससे कुछ दूर ही रहते हुए धक्कों से नौका की ओर ले जाने का प्रयत्न आरंभ किया । थोड़ी ही देर में वे दोनो नाव के निकट पहुँच गए तथा मल्लाह ने झुककर सखी को ऊपर खींच लिया ।

इधर चंद्रगुप्त भी राजकुमारी दुर्धरा को बचाने में यत्नशील हुए, और उसे उसी प्रकार धक्के दे-देकर नौका की ओर ले जाने लगे । इतने ही में दैव-वश इनका हाथ राजकुमारी के हाथ में लग गया । डूबता हुआ व्यक्ति स्वभाव से ही बचने की आशा से बचानेवाले से लिपट जाने में ही अपनी रक्षा समझता है, यद्यपि लाभ के स्थान पर इसमें

प्राय: दोनो के ही प्राण जाते हैं। अस्तु। यही दशा यहाँ होने लगी, और दुर्धरा हाथ पकड़कर इनसे इस प्रकार चिमट गई, कि दोनो डूबने लगे। कुमार तैरने में प्रवीण थे, जिससे यह आपदा देखकर भी उन्होंने हिम्मत न छोड़ी, वरन् जब-जब जल के अंदर गए, तब-तव श्वास साधकर मुँह में पानी न जाने दिया। इसी भाँति एक हाथ से राजकुमारी का मुख दाब लिया, जिसमें उसके भी उदर में जल न जाने पाए। जल का नियम है कि वह मनुष्यों को ऊपर उछाला करता है, क्योंकि मानुष शरीर से जल तोल में कुछ ही भारी होता है, जिससे शरीर देर तक उसके भीतर नहीं रह सकता। इस प्रकार मौर्य राजकुमार ने कुछ देर अपनी तथा राजकुमारी की रक्षा की, और एक बार जब इन दोनो के शीश बाहर निकले, तब एक हाथ से इन्होंने मल्लाह को इंगित किया, और उसने तुरंत एक मोटा-सा रस्सा इनकी ओर फेंका, जिसे युक्ति-पूर्वक आपने एक हाथ से पकड़ लिया। तब मल्लाह ने उस रस्से को नौका की ओर खींच लिया तथा आपने पहले राजकुमारी को मल्लाह की सहायता से नौका पर चढ़वा दिया, अनंतर नाव का किनारा पकड़कर आप स्वयं कूदकर उस पर चढ़ गए। राजकुमारी अज्ञता-वश बहुत-सा पानी पी गई थी। आपने उसे वहीं उलटा टाँग दिया, जिससे घड़ी, आध घड़ी में पानी उसके पेट से निकल गया, और कुछ देर में वह चेत में आने लगी। तब मौर्य राजकुमार राजपुत्री को विद्यापीठ के औषधालय ले गए, जहाँ वैद्यों की चिकित्सा से उन्हें चेत आ गया। यह हाल सुनकर दुर्धर्ष भी वहीं पहुँचे, तथा राजकन्या को अपने स्थान पर ले गए, जहाँ उचित चिकित्सा के प्रभाव से वह चार-छ दिनों में यथापूर्व स्वस्थ हो गई।

राजपुत्र दुर्धर्ष ने चंद्रगुप्त को बहुत-बहुत धन्यवाद दिए, तथा स्वस्थ होने पर राजकुमारी ने भी ऐसा ही किया। समय पर इन सबका व्यवहार फिर पूर्ववत् चलने लगा। राजकुमारी की सखी भी स्वस्थ हो गई। एक दिन साप्ताहिक उपाहार-संबंधी निमंत्रण में इन लोगों में प्रेम-पूर्ण, साधारण संभाषण होने लगा—

दुर्धर्ष—राजपुत्र महोदय ! आपने राज्य में सम्मति देने का निमंत्रण ही नहीं स्वीकार किया, वरन् मेरी भगिनी की प्राण-रक्षा करके काम भी आरंभ कर दिया है ।

चंद्रगुप्त—जन-सेवा का भाव स्वीकार ही कर लिया, तब उसे बजाने में आगा-पीछा कैसे हो सकता था ?

दुर्धरा—आपके आभार से मेरा मुख सम्मुख नहीं होता । यही सोचा करती हूँ कि यह ऋण किस प्रकार चुकेगा ?

चंद्रगुप्त—आप तो राजकुमारीजी ! ग़ज़ब ही करती हैं; भला, इसमें कृपा की बात ही क्या है ? किसी न जाने हुए व्यक्ति की भी प्राण-रक्षा प्रत्येक भद्र पुरुष के लिये आवश्यक होती है; फिर किसी मित्र के साथ ऐसा व्यवहार होने में कौन-सी बड़ी बात है ? क्या आपको डूबता देख मुँह चुराकर भाग खड़ा होता ? बचाना एक साधारण बात थी । तैरना जानता ही था, कूदता क्यों न ?

दुर्धरा—आपने तो मुझे उस छोटी-सी नाव पर देखकर उसके डूबने के डर से तीन घड़ी व्यय करके मेरा पीछा बराबर किया । कृपा-पूर्ण व्यवहार की सीमा हो गई ! आज से मैं ऐसा समझूँगी कि मेरे एक नहीं, दो भाई हैं ।

चंद्रगुप्त—यह आपकी कृपा है; मैं तो आपको भगिनी समझने का साहस कर नहीं सकता । जब दुर्धर्षजी की आज्ञा मानकर एक प्रकार से राज-सेवक हो गया हूँ, तब आप स्वसा न होकर स्वामिनी ही कही जा सकती हैं ।

दुर्धर्ष—यह नवीन स्वामित्व बहुत ही बढ़िया निकला । कार्य-साधन तो स्वीकृत न हुआ, केवल मित्र-भाव-पूर्ण सम्मति-प्रदान-मात्र की बात रही, किंतु स्वामित्व आ ही गया ।

चंद्रगुप्त—इन बातों में क्या रक्खा है ? मित्रवर ! आप हम दोनो के ज्येष्ठ बंधु-से हैं । आज हमारी ज्ञान-गरिमा की परीक्षा लीजिए, तो कैसा ?

दुर्धर्ष—यह आश्चर्य-पूर्ण प्रस्ताव है; कैसी परीक्षा आप चाहते हैं ?

चंद्रगुप्त—अपने भारतीय पूर्वजों में सोचा जाय कि कौन-कौन-से दंपति किस प्रकार से आपस में प्रेम-पूर्वक रह सके ?

दुर्धरा--प्रश्न तो बहुत बढ़िया है; अच्छा नाम लीजिए कि किन-किन पर विचार किया जाय ?

दुर्धर्ष—जब परीक्षा मुझी को लेनी है, तब नाम मैं ही कहूँ न ?

चंद्रगुप्त—यही तो उचित है।

दुर्धर्ष—अच्छा, पहले यही बतलाया जाय कि ब्रह्मा ने अपनी ही कन्या सरस्वती से विवाह कैसे कर लिया ?

दुर्धरा—ये तो देवतों की बातें हैं ? किसने देखा कि ब्रह्मा के घर सरस्वतीजी उत्पन्न हुईं ?

चंद्रगुप्त—जब ब्रह्मा के कोई स्त्री थी ही नहीं, तब सरस्वती उनकी कन्या हुईं कैसे ? इसी प्रकार मनु ने अपने ही यज्ञ से उत्पन्न इड़ा से विवाह किया, यह बात भी केवल आलंकारिक है।

दुर्धरा—अच्छा, पहले अज और इंदुमती पर विचार हो।

दुर्धर्ष—इस प्रश्न का उत्तर भी तुम्हीं दो।

दुर्धरा—उन दोनो का जीवन तो प्रेम-पूर्ण होगा ही, केवल स्त्री के मरने पर अज का सात वर्ष-पर्यंत शोकित रहकर आत्महत्या करना अति की सीमा तक पहुँचता है।

चंद्रगुप्त—है तो यही, किंतु बहुतेरी स्त्रियाँ जो सती हो जाती हैं, वह भी तो ऐसी ही बात है।

दुर्धरा—वह तुरंत के आवेश-वश ध्यान में आ सकने से सीमातिरिक्त चाहे न भी मानी जाय, किंतु अजवाली बात अवश्य ऐसी है।

चंद्रगुप्त—है तो बहुत करके ऐसा ही, किंतु उनका परम प्रगाढ़ प्रेम भी प्रकट है, जो राज्य-सुख तथा पुत्र दशरथ के होने पर भी प्रेम-पात्री के अभाव में उन्हें सुखी न रख सका। आज अज का प्रेम बहुत ही उच्च माना जा सकता है।

दुर्धर्ष—अच्छा, अब राम-सीता का कथन हो।

दुर्धरा—सीताजी ने प्रेम के आगे कोई भी विघ्न विचारणीय

न समझने की भारी भूल की, जिससे चौदह वर्षों के वदले सारे जीवन के लिये वही दुःख उठाना पड़ा ।

चंद्रगुप्त—उन दोनो का प्रेम था तो वहुत श्लाघ्य, किंतु प्रेम-पात्री की भूल अवश्य माननीय है। उनकी मानसिक निर्बलता प्रकट ही है। सभी बातों में सांसारिक संभवनीयता को कभी पीछे न छोड़ना चाहिए।

दुर्धरा—अच्छा, राम ने उन्हें छोड़ा क्यों ? यदि क्षुद्र प्रजा एक निष्पाप प्रेम-मूर्ति को कलुषित समझने का हठ करती थी, तो ऐसी प्रजा को ही राज्य-त्याग द्वारा क्यों न छोड़ दिया ?

चंद्रगुप्त—राज्य में करोड़ों लोग थे। सौ-पचास क्षुद्रों की मूर्खता से सारी प्रजा के सुपालित होने के अधिकार का अपमान भगवान् आदर्श नरेश होकर कैसे करते ?

दुर्धरा—यह बात थी ?

चंद्रगुप्त—समझ तो यही पड़ता है, किंतु इसमें मतभेद संभव है।

दुर्धर्ष—अच्छा, अव द्रौपदी का कथन कीजिए।

दुर्धरा—उनका पाँच पतियों से विवाह समर्थनीय नहीं दिखता। जब कौरवों ने उनका अनुचित अपमान किया, तब युद्ध के समय उनके द्वारा बदला लेने का विचार स्वाभाविक ही था। मुझे द्रौपदी का शील-गुण बुरा नहीं समझ पड़ता ।

चंद्रगुप्त—है तो यही बात। अब यशोधरा-विषयक विचार हो।

दुर्धरा—वह बेचारी तो पतिवाले माहात्म्य के नीचे पिस गई।

चंद्रगुप्त—है तो ऐसा अवश्य, किंतु वैवाहिक जीवन की हानि-मात्र से उनका नाम प्रलय-पर्यंत कैसा चलेगा ? स्वयं उनका तो कोई माहात्म्य था नहीं; जिस पति ने धार्मिक महत्ता के कारण पत्नी का वैवाहिक जीवन खंडित किया, उसी ने उन्हें संसार में पूज्य भी तो बना दिया।

दुर्धरा—हुआ तो ऐसा अवश्य, किंतु क्या वह देखने आती हैं कि उनका नाम चल रहा है ? जीवन का स्वाद तो गया ही।

चंद्रगुप्त—ऐसा सोचने से अनेकानेक सद्‌गुणों का फल अग्राह्य मानना पड़ेगा ।

दुर्धर्ष—धार्मिक जीवन के संबंध में न्यूनाधिक विश्वासवाद पर आना ही पड़ता है । कहते ही हैं कि जिसका नाम संसार में कीर्ति के साथ जितने दिन चलता है, उतने ही दिन वह स्वर्ग में निवास करता है ।

चंद्रगुप्त—यही बात है, भाईजी ! संसार-भर के हित-साधन में आत्मीय सुख छोड़ने पड़ते हैं। जो वीर देश बचाने को प्राणोत्सर्ग करते हैं, क्या उनके कुटुंब विरह-वेदना नहीं भोगते ? महान् प्रश्नों पर ऐसे संकीर्ण भाव नगण्य रहते हैं, नहीं तो सांसारिक उन्नति ध्वस्त हो जाय ।

दुर्धरा—है तो ठीक । यह विचार अब मैं भी मानती हूँ ।

दुर्धर्ष—भला, महापद्मनंद द्वारा जो जनपद-विनाश के साथ साम्राज्य-सा स्थापित हुआ, उसके विषय में क्या विचार है ? प्राचीन भारतीय सभ्यता तो ऐसी थी कि यश-विस्तार अथवा यज्ञादि के संबंध में राजा चाहे किसी को पराजित करे, तो भी उसका राज्य न छीने ।

चंद्रगुप्त—था तो ऐसा अवश्य, किंतु इस सभ्यता के पालन से देश निर्बल रहेगा, जैसा कि सप्तसिंधु आज है । यदि अलिकसुंदर का धावा हो गया, तो उसे रोकनेवाला इधर कोई नहीं दिखता, किंतु नवनंद को पराजित करना उसके लिये भी दुस्तर क्या, दुःसाध्य होगा ।

दुर्धर्ष—इतना तो दिख ही रहा है । छोटे-छोटे राज्यों के अधिकारों का विशेष मान होने से देश का अमंगल प्रत्यक्ष ही है । भला, मैं पूछता हूँ कि यदि यवनों का प्रचंड आक्रमण हुआ, तो इधर कैसी ठहरेगी ?

चंद्रगुप्त—मेरा विचार ऐसा है कि यहाँ के नरेशों को सहयोग स्थापित करना पड़ेगा, नहीं तो उत्तर-पश्चिमी भारत का कल्याण नहीं दिखता ?

दुर्धर्ष—सहयोग का कथन सुगम है, किंतु प्राप्ति दुर्गम है । एतद्देशीय नरेशों में एक दूसरे से ईर्ष्या-द्रोह इतने बढ़े हुए हैं कि केवल राजनीतिक विचारों के फैलने से ही उनमें ऐक्य दुष्प्राप्य दिखता है ।

चंद्रगुप्त—है तो यही बात, किंतु प्रयत्न आवश्यक है। यहाँ के राज-मंडल के लिये यह साधारण न होकर जीवन-मरण का प्रश्न है। किसी प्रबल शत्रु के आक्रमण से न-जाने कौन राज्य बचे, और कौन लुप्त हो जाय ? प्रश्न बड़ा कठिन है। बड़ी बुद्धिमानी की आवश्यकता है।

दुर्द्धर्ष—पिताजी से इस विषय पर प्रार्थना अवश्य करूँगा। इससे अधिक और क्या कर सकता हूँ ?

चंद्रगुप्त—सो तो है ही।

दुर्वरा—अब तो आप लोग बड़े राजनीतिज्ञ हुए जाते हैं। कहाँ की झक-झक निकाली ! आज चौगान होनेवाला है। समय भी आ गया है। क्या चलिएगा नहीं ?

दुर्द्धर्ष—चलो, चलेंगे क्यों नहीं।

चंद्रगुप्त—जैसी इच्छा।

इस प्रकार संभाषण के पीछे मित्रों की यह सभा भंग हुई, और ये सब लोग चौगान देखने को पधारे।

पंचम परिच्छेद

सुनंदा और पिप्पली-कानन

(अ) सुनंदा

जब पिता-सहित चंद्रगुप्त पाटलिपुत्र छोड़कर पिप्पली-कानन सिधारे, तब धननंद ने कन्या के विवाहार्थ दो-तीन राज्यों में बात चलाई, किंतु राजपुत्री सुनंदा ने उनमें से किसी राजकुमार को भारी राज्य का उत्तराधिकारी होने पर भी स्वीकार न किया, न किसी ओर क्षण-भर को दृष्टि डाली। नवनंद-वंश पुत्री के इस व्यवहार से बहुत दुःखी हुआ। किंतु महिषी की उदारता के कारण राजपुत्री पर कोई अनुचित दबाव न डाल सका। कुछ दिन वहाँ और बिताकर सुनंदा का चित्त सांसारिक विषयों से ऊब गया, और उसने योग-साधन का भाव दृढ़ करना आरंभ किया। राजमहिषी ने कन्या को बहुत समझाया, किंतु उसका चित्त सांसारिक बंधनों से ऐसा हटा कि माता-पिता की आज्ञा इस विषय में मिलनी असंभव समझकर उसने गुप्त रूप से एक अंतरंगा सखी के साथ राजसदन छोड़ दिया, और उन दोनो ने गेरुए वस्त्र धारण करके धार्मिक जीवन बिताना आरंभ किया। एक श्रेष्ठ धार्मिक गुरु से मंत्र लेकर वे छिपे-छिपे लोक में भ्रमण करने लगीं। पहले इधर-उधर घूमती हुई वे पिप्पलीकानन भी पहुँचीं, जहाँ गुप्त रूप से प्रायः दस दिन रह कर उन्होंने चंद्रगुप्त के विचारों का पता लगाया। तब तक वह तक्षशिला जा चुके थे। अब इन दोनो ने गुप्त रूप से तक्षशिला पहुँचकर छिपे-छिपे शोध लिया, तो इन्हें ज्ञात हुआ कि चंद्रगुप्त राजपुत्री दुर्धरा से गुप्त प्रेम करते थे, यद्यपि यह बात प्रकट किसी से न की गई थी। तब तक वह यवन-देश की ओर प्रस्थित हो चुके थे, तथा अवभृथ-स्नान के पीछे राजकुमार दुर्धर्ष अपनी राजधानी

जा चुके थे, और दुर्धरा वहीं विद्यालय में कुछ राजसेवकों एवं एक अभिभावक की सहायता से विद्याध्ययन में संलग्न थी।

योगिनी मुनंदा ने सखी के साथ राजपुत्री दुर्धरा से शनैः-शनैः व्यवहार बढ़ाया। दस-पंद्रह दिन में सुनंदा और दुर्धरा में प्रेम-भाव-पूर्ण संभाषण भी होने लगे। एक दिन सुनंदा ने एकांत में यों कथनोपकथन चलाया—

सुनंदा—प्यारी बेटी! तेरी अवस्था अब सोलहवें वर्ष में आ गई है; क्या अभी तक तुम्हें किसी योग्य वर के देखने का अवसर नहीं हुआ? यह एक गुप्त प्रश्न है, और मुझे एकाकी पूछना न चाहिए था, किंतु हम लोग विरक्ति के कारण देश-विदेशों में फिरा ही करती हैं, जिससे हमें बहुतेरी जानने योग्य बातें भी ज्ञात रहती हैं।

दुर्धरा—माताजी! आपने संसार जब छोड़ ही दिया है, तब इस प्रकार के प्रश्नों पर ध्यान देना क्यों ठीक मानती हैं?

सुनंदा—बेटी! संसार तो मरन के पूर्व कोई छोड़ सकता नहीं। हम सबको भोजनाच्छादन तथा रक्षा के निमित्त संसार का ऋणी रहना ही पड़ता है। फिर यदि उसका कुछ भी हित-साधन न करें, तो यह ऋण कैसे चुके? संसार-त्याग का वास्तविक प्रयोजन केवल स्वार्थ-त्याग का है। पर-हित-चिंतन त्यागियों को भी वैसे ही करना चाहिए, जैसे संसारी पुरुष स्वार्थ में प्रवृत्त रहते हैं।

दुर्धरा—हैं तो माताजी! यह विचार भी बहुत योग्य। मैं देख रही हूँ, आपके बहुतेरे साधारण कर्म और कथन भी अत्यंत उच्च भाव-गर्भित रहते हैं। पूर्णतया पूज्य समझकर, थोड़े ही काल का परिचय होने पर भी, आपकी सेवा में गुप्त भाव से गुह्य विचार भी सदैव मैंने खुले चित्त से निवेदित किए हैं। यदि आपके ऊपर भी विश्वास न करूँगी, तो करूँगी किस पर? आप सभी कुछ पूछ सकती हैं।

सुनंदा—तब फिर मेरे प्रश्न पर यदि कुछ कहना चाहो, तो कह सकती हो। यदि थोड़ा भी संकोच हो, तो मुझे हठ नहीं है।

दुर्धरा—आपके-से विश्वास-पात्र गृह-त्यागियों से संकोच कैसा ? बात यह है माताजी ! कि मैं अपने को अब तक बालिका-मात्र समझती आई हूँ। यद्यपि इस महाविद्यालय में एक शत से अधिक राजकुमार शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं, और मैंने उन सबको देखा है, तथापि कोई मुझे बहुत क्या, थोड़ा भी पसंद न आया। ऐसा विचार केवल मित्रता के रूप में था, वैवाहिक विषय पर नहीं। हाँ, इन दिनों चंद्रगुप्त-नामक एक मौर्य राजकुमार से मेरा मित्र-भाव कुछ विशेष बढ़ा, किंतु वह भी था भ्रातृत्व-भाव-गर्भित, न कि वैवाहिक रीति का।

सुनंदा—क्या उन्होंने कभी ऐसा कहा अथवा स्वीकार किया था ? क्या ऐसे विषय पर कभी बात हुई थी ?

दुर्धरा—उन्होंने सदैव भद्रत्व-पूर्ण संभाषण किया, न कभी प्रेम दिखलाया, न कोई प्रार्थना की। केवल मित्रता-पूर्ण व्यवहार रहा। जब एक दिन मैंने उन्हें भ्रातृत्व का पद बातों-ही-बातों में दिया, तब उसे अस्वीकार करके मुझे स्वामिनी कहा।

सुनंदा—क्या इतने से भी बेटी ! तुझे प्रेम प्रार्थना न समझ पड़ी ?

दुर्धरा—मैंने तो माताजी ! इसका अर्थ ही न समझा। मन से बालिका-मात्र बनी रहने से ध्वनि-व्यंग्य की ओर चित्त प्रायः नहीं ले जाती ; स्वभाव ही कुछ ऐसा हो गया है।

सुनंदा—यहाँ ध्वनि-व्यंग्य न होकर प्रायः शुद्ध अभिधा थी। आपकी उनसे प्रीति थी ही, और जब उन्होंने उसे भ्रातृत्व-गर्भित न माना, तो रह कैसी गई ?

दुर्धरा—हुई तो वैसी ही, जैसी आप आज्ञा करती हैं, तथापि मेरी बुद्धि इतनी दूर न गई।

सुनंदा—अच्छा, जितने राजकुमार यहाँ हैं, वे सब उनके सामने कैसे हैं ?

दुर्धरा—हैं तो नगण्य।

सुनंदा—एक बात बेटी ! तुझे और बतलाती हूँ, कि छोटे राज्य-

जा चुके थे, और दुर्धरा वहाँ विद्यालय में कुछ राजसेवकों एवं एक अभिभावक की सहायता से विद्याध्ययन में संलग्न थी।

योगिनी सुनंदा ने सखी के साथ राजपुत्री दुर्धरा से शनैः-शनैः व्यवहार बढ़ाया। दस-पंद्रह दिन में सुनंदा और दुर्धरा में प्रेम-भाव-पूर्ण संभाषण भी होने लगे। एक दिन सुनंदा ने एकांत में यों कथनोपकथन चलाया—

सुनंदा—प्यारी बेटी ! तेरी अवस्था अब सोलहवें वर्ष में आ गई है; क्या अभी तक तुम्हें किसी योग्य वर के देखने का अवसर नहीं हुआ ? यह एक गुप्त प्रश्न है, और मुझे एकाकी पूछना न चाहिए था, किंतु हम लोग विरक्ति के कारण देश-विदेशों में फिरा ही करती हैं, जिससे हमें बहुतेरी जानने योग्य बातें भी ज्ञात रहती हैं।

दुर्धरा—माताजी ! आपने संसार जब छोड़ ही दिया है, तब इस प्रकार के प्रश्नों पर ध्यान देना क्यों ठीक मानती हैं ?

सुनंदा—बेटी ! संसार तो मरन के पूर्व कोई छोड़ सकता नहीं। हम सबको भोजनाच्छादन तथा रक्षा के निमित्त संसार का ऋणी रहना ही पड़ता है। फिर यदि उसका कुछ भी हित-साधन न करें, तो यह ऋण कैसे चुके ? संसार-त्याग का वास्तविक प्रयोजन केवल स्वार्थ-त्याग का है। पर-हित-चिंतन त्यागियों को भी वैसे ही करना चाहिए, जैसे संसारी पुरुष स्वार्थ में प्रवृत्त रहते हैं।

दुर्धरा—है तो माताजी ! यह विचार भी बहुत योग्य। मैं देख रही हूँ, आपके बहुतेरे साधारण कर्म और कथन भी अत्यंत उच्च भाव-गर्भित रहते हैं। पूर्णतया पूज्य समझकर, थोड़े ही काल का परिचय होने पर भी, आपकी सेवा में गुप्त भाव से गुह्य विचार भी सदैव मैंने खुले चित्त से निवेदित किए हैं। यदि आपके ऊपर भी विश्वास न करूँगी, तो करूँगी किस पर ? आप सभी कुछ पूछ सकती हैं।

सुनंदा—तब फिर मेरे प्रश्न पर यदि कुछ कहना चाहो, तो कह सकती हो। यदि थोड़ा भी संकोच हो, तो मुझे हठ नहीं है।

दुर्धरा—आपके-से विश्वास-पात्र गृह-त्यागियों से संकोच कैसा ? बात यह है माताजी ! कि मैं अपने को अब तक बालिका-मात्र समझती आई हूँ। यद्यपि इस महाविद्यालय में एक शत से अधिक राजकुमार शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं, और मैंने उन सबको देखा है, तथापि कोई मुझे बहुत क्या, थोड़ा भी पसंद न आया। ऐसा विचार केवल मित्रता के रूप में था, वैवाहिक विषय पर नहीं। हाँ, इन दिनों चंद्रगुप्त-नामक एक मौर्य राजकुमार से मेरा मित्र-भाव कुछ विशेष बढ़ा, किंतु वह भी था भ्रातृत्व-भाव-गर्भित, न कि वैवाहिक रीति का।

सुनंदा—क्या उन्होंने कभी ऐसा कहा अथवा स्वीकार किया था ? क्या ऐसे विषय पर कभी बात हुई थी ?

दुर्धरा—उन्होंने सदैव भद्रत्व-पूर्ण संभाषण किया, न कभी प्रेम दिखलाया, न कोई प्रार्थना की। केवल मित्रता-पूर्ण व्यवहार रहा। जब एक दिन मैंने उन्हें भ्रातृत्व का पद बातों-ही-बातों में दिया, तब उसे अस्वीकार करके मुझे स्वामिनी कहा।

सुनंदा—क्या इतने से भी बेटी ! तुझे प्रेम प्रार्थना न समझ पड़ी ?

दुर्धरा—मैंने तो माताजी ! इसका अर्थ ही न समझा। मन से बालिका-मात्र बनी रहने से ध्वनि-व्यंग्य की ओर चित्त प्रायः नहीं ले जाती; स्वभाव ही कुछ ऐसा हो गया है।

सुनंदा—यहाँ ध्वनि-व्यंग्य न होकर प्रायः शुद्ध अभिधा थी। आपकी उनसे प्रीति थी ही, और जब उन्होंने उसे भ्रातृत्व-गर्भित न माना, तो रह कैसी गई ?

दुर्धरा—हुई तो वैसी ही, जैसी आप आज्ञा करती हैं, तथापि मेरी बुद्धि इतनी दूर न गई।

सुनंदा—अच्छा, जितने राजकुमार यहाँ हैं, वे सब उनके सामने कैसे हैं ?

दुर्धरा—हैं तो नगण्य।

सुनंदा—एक बात बेटी ! तुझे और बतलाती हूँ कि छोटे राज्य-

मात्र के उत्तराधिकारी होकर भी उन्होंने पाटलिपुत्र-सम्राट् की एकमात्र राजकुमारी की प्रेम-भिक्षा अस्वीकार कर दी।

दुर्धरा—यह आपने कैसे जाना ? क्या वह सुंदरी न थी, अथवा कोई और दोष उसमें था ?

सुनंदा—मैं भी पाटलिपुत्र की ही रहनेवाली हूँ, सो वहाँ की बातें मुझसे कैसे छिप सकती थीं ? उस राजपुत्री के सौंदर्य पर वह स्वयं पूर्णतया मुग्ध थे, और उसमें कोई कथनीय दोष भी नहीं था। उसी ने प्रेम-भिक्षा माँगी थी, तो भी उसके चरित्र में न्यूनाधिक अहंकार का संदेह करके उन्होंने नाहीं कर दी थी।

दुर्धरा—क्या इसी झगड़े में उनके पिता का सेनापति का पद गया ?

सुनंदा—यही तो हुआ ही।

दुर्धरा—जब ऐसे स्वाभिमानी हैं, तब उन्होंने मुझी से क्यों प्रेम-भिक्षा माँगी ?

सुनंदा—इसी से तो, मैं तुझे बहुत भाग्यवती मानती हूँ। फिर शास्त्रीय आज्ञा है कि एक बार हाथ पकड़ने से जीवन-पर्यंत निभाना होता है; उधर तू तो बेटी ! उनसे सरोवर में साष्टांग लिपट गई थी।

दुर्धरा—वह तो आपद्धर्म की बात थी।

सुनंदा—उसी के पीछे तो उन्होंने प्रेम-भिक्षा माँगी, जिसका अर्थ ही तू न समझी।

दुर्धरा—तो अब क्या योग्य है ? माताजी ! अब तो वह यवन-देश जा चुके हैं। चलते समय प्रेमाश्रु-पूर्ण नेत्रों के साथ मुझसे बिदा हुए, किंतु मुख से उन्होंने कोई असाधारण बात न कही।

सुनंदा—वह बेटी ! कभी अनुचित संभाषण के दोषी नहीं हुआ करते। यही तो उनकी महत्ता है।

दुर्धरा—क्या अपनी मूर्खता से मैंने उन्हें खो दिया है ?

सुनंदा—अभी परसाल फिर आएँगे, खो नहीं गए हैं। तुझे चाहते बहुत हैं।

दुर्धरा—फिर भी माताजी ! योग लगे कैसे ? मैं तो अपने मुँह से कुछ कहूँगी नहीं, और वह भी पूरे संकोची हैं !

सुनंदा—क्या मैं इस विषय में भ्राताजी से तेरी रुचि प्रकट करूँ ? मैं वेटी ! उनके और तेरे लिये कर सभी कुछ सकती हूँ ।

दुर्धरा—बड़ी ही कृपा होगी, किंतु क्या आपको इतना कष्ट देना मेरे लिये योग्य है ?

सुनंदा—मैंने कहा न, कि सभी का हित-साधन अब मेरा मुख्य कर्तव्य रह गया है । जब स्वार्थ छोड़ा, तब यदि परमार्थ के लिये यत्न न करूँ, तो संसार की ऋणी रहूँगी ।

दुर्धरा—आपकी महत्ता माताजी ! शत मुख से श्लाघ्य है । फिर भी कथन ऐसे कीजिएगा कि मेरी ओर से कोई भोंड़ापन न होने पाए ।

सुनंदा—ऐसा तो होगा ही ।

इस प्रकार बातचीत करके योगिनी सुनंदा राजपुत्री दुर्धरा से चिरकाल के लिये आशीर्वाद-सहित विदा हुईं । दुर्धरा ने उसे भूरि-भूरि धन्यवाद दिए । अनंतर सुनंदादेवी ऋषिवर चाणक्य के आश्रम को पधारीं । उस समय वह आर्य शकटार से वार्तालाप कर रहे थे कि इतने में एक शिष्य ने आकर विनती की—

शिष्य—गुरुदेव ! एक योगिनी बालिका आपके दर्शन चाहती है । मैंने यहाँ आर्य का भी विराजना कहा, तो उसकी इच्छा आप दोनो महोदयों से साथ ही मिलने की हुई ।

चाणक्य—अभी भेज दो, बेटा !

शिष्य "जो आज्ञा" कहकर बाहर गया, और सुनंदा ने प्रवेश किया ।

सुनंदा—जय-जय युगल महानुभावो !

चाणक्य—आयुष्मती भव, राजकुमारी ! आइए, विराजिए । आज मैं आपको इस रूप में कैसे देख रहा हूँ ? तूने वेटी ! यह क्या कर डाला ? यह रूप, विद्या, गुण और अवस्था अथच यह योगिनी का वेष ! तुझे वेटी

शकटार—प्रिय राजपुत्री ! आप यह क्या कर बैठीं ? हम लोग आपको दस-पाँच दिनों से यहाँ यत्र-तत्र देख रहे हैं, किंतु आपकी स्वतंत्रता में बाधा न डालने के कारण मिले नहीं, न किसी पर भेद प्रकट किया । ऐसा करेंगे भी नहीं, किंतु आप ही बतलाने की कृपा कीजिए कि विना विचारे यह क्या कर गईं ?

सुनंदा—गुरुदेव तथा आर्य के चरणों में सहस्रशः वंदना अर्पित करती हूँ । अब ऐसे ऐंड़े-बेड़े प्रश्नों के स्थान पर शिक्षा दीजिए । आपमें से एक महाशय गुरुदेव हैं, और द्वितीय मेरे पूज्य पिता के मंत्री । शिक्षा अब और किससे लेने जाऊँ ?

चाणक्य—हम दोनो समझते हैं बेटी ! कि तुझे चंद्रगुप्त के संबंध म विफलता से भारी कष्ट हुआ है । तो भी सहसा योग-धारण न करके तू यदि मेरे पास यों ही चली आती या मुझे ही बुला लेती, तो चुटकी बजाते तेरा कार्य हो जाता । क्या वृषल मेरी आज्ञा के प्रतिकूल क्षण-भर के लिये भी जा सकता था या जाता ? यदि मुझसे ऐसा विषय प्रकट करने में संकोच करती, तो आर्य शकटार का ही स्मरण कर लेती । यह तेरे पितृव्य के समान हैं । यह सहसा कर्म तुझे शोभा नहीं देता बेटी !

सुनंदा—इन कृपाओं के लिये सहस्रशः धन्यवाद है, किंतु गुरुदेव ! कहीं गुरु की आज्ञाओं या पितृव्यों के दबाव से शुद्ध प्रेम जुड़ता है ?

शकटार—बेटी ! मौर्य कुमार ने तुझे अभिमानिनी मानने की भूल कर दी । वह तेरा परम गंभीर प्रेम न परख पाया । कहीं कोई मानिनी ऐसी भारी प्रीति-संपन्न हो सकती है ? चंद्रगुप्त बालक तो है ही; तेरा अमोघ प्रेम वह समझ न सका ।

सुनंदा—आर्य ! ऐसा होने में दोष ही क्या हुआ ? जो शुद्ध प्रेम किसी मनुष्य की ओर लगता, वही दैवत चरणों में भी तो अर्पित हो सकता है । क्या मनुष्य-प्रति प्रेम दैवत प्रेम के सम्मुख तुच्छ नहीं माना जायगा ?

चाणक्य—है तो यही बात बेटी ! किंतु ऐसी साधना यावज्जीवन दुर्लभ क्या, अशक्यप्राय है ।

सुनंदा—गुरुवर ! क्या महाविद्यालय में आपने मानसिक दृढ़ता का उपदेश नहीं दिया था ? ऐंद्रिय सुख क्षणिक होता है, और पीछे की वेदनाएँ इत्यादि क्या असह्य नहीं होतीं ? मैंने स्वार्थ का त्याग करके परमार्थ की ओर ध्यान लगाया है। यथासाध्य जग-उपकार में निरत रहूँगी। आप आशीर्वाद-भर दे दीजिए।

चाणक्य—मैं बेटी ! तुझे मान-पूर्वक तेरे पिता के घर भेजवा देने को प्रस्तुत हूँ। मेरी शपथ पर वह शत्रु होकर भी अविश्वासी नहीं हो सकते। चंद्रगुप्त मुझे पुत्र-सरिस प्रिय है। गुरु की आज्ञा से प्रेम जुड़ने का कोई प्रश्न नहीं है। अपनी भूल देखकर वह स्वयं तेरी चरण-रज मस्तक पर धारण करेगा। मान जा बेटी ! हठ छोड़ दे। एक बार योग-धारण करके भी तू धर्म-पूर्वक गृहस्था बन सकती है। ऐसे विधान के नियम सूत्रों में प्रस्तुत हैं। मैं तेरे पिता का शत्रु होकर भी तेरा हितैषी ही हूँ। तू शैलजा, सरस्वती आदि के समान पूज्या है। मेरी शिक्षा मान ले। एक बार फिर कहता हूँ कि हठ छोड़ दे। वृषल का तुझसे प्रेम दबाव से न जुड़कर पूर्ण सद्भाव के साथ जुड़ेगा। इसका उत्तरदायी मैं होता हूँ।

सुनंदा—गुरुदेव ! मैं योगिनी हूँ। आपको बेटी कहकर अब मेरा संबोधन न करना चाहिए, क्योंकि मैं जगन्माता हो चुकी हूँ। अब मैं गृहस्था न हूँगी। दंति-दंत एक बार बाहर निकलकर फिर से मुँह में नहीं घुसते। गुरुदेव ! व्यक्तिगत आह्लाद से सारे संसार का हित-साधन असंख्य गुना गुरुतर कार्य है। अपराध क्षमा कीजिए। अब मैं योगिनी हूँ। फिर भी आपके पट्ट शिष्य का हित-साधन करती रहूँगी। आप उनका विवाह दुर्धरादेवी से चाहते थे, ऐसा मुझे परम गुप्त भाव से ज्ञात हो चुका था। उन्होंने उससे श्रेष्ठ व्यवहार तो बढ़ाया, किंतु संकोच-वश प्रेम-प्रार्थना न की। परम गुप्त भाव से कहती हूँ कि मैं आज ही उसे उनके लिये अनुकूल कर आई हूँ, और झेलम जाकर उसके भ्राता द्वारा पिता को भी समझवाकर मामला निश्चित करा दूँगी। यही विषय आप पर प्रकट करने आज आई थी। पहला काम था आशीर्वाद-प्राप्ति और दूसरा यह।

चाणक्य—धन्य बेटी ! नहीं माता ! धन्य ! मैं अब आपको आशीर्वाद देने का अधिकारी नहीं हूँ, वरन जगन्माता होकर आप ही हम दोनो को आशीर्वाद दीजिए ।

शकटार—यही बात है देवीजी ! आपकी दृढ़ता धन्य है !

इस प्रकार संभाषण तथा अपना भेद गुप्त रखने की उनसे प्रार्थना करके सुनंदादेवी वहाँ से प्रस्थित हुई. तथा अपनी प्रिय सखी को साथ लेकर यथासमय पौरव नरेश की राजधानी पहुँचीं । वहाँ कुछ दिनों गुप्त भाव से रहकर इन्होंने राजकुमार दुर्धर्ष से युक्ति-पूर्वक परिचय बढ़ाया । उच्च उपदेशों के पीछे जब समझ गई कि उन पर इनका समुचित प्रभाव पड़ तथा विश्वास बढ़ चुका है, तब एक दिन एकांत में आपने दुर्धरा के संबंध में कथनोपकथन उठाया—

सुनंदा—युवराज महोदय ! आप अब तक जान चुके होंगे कि योगिनी होने के कारण मैं स्वार्थ तो छोड़ चुकी हूँ, तथापि परार्थ-साधन में पूर्णतया बद्ध-परिकर रहती हूँ ।

दुर्धर्ष—देवीजी ! आपका परमोच्च आचरण मुझ पर भली भांति विदित है। जो कुछ पूछना चाहिए, निस्संकोच भाव से आज्ञा कीजिए।

सुनंदा—बड़ी कृपा; मैं यह जानना चाहती हूँ कि अपनी भगिनी दुर्धरा के विवाह पर कभी आपने विचार किया है या नहीं ?

दुर्धर्ष—वह तो अभी तक्षशिला-महाविद्यालय में शिक्षा ग्रहण कर रही है। वहाँ शतोत्तर राजकुमार अब भी पढ़ रहे हैं। उनमें से कोई पसंद किया जा सकता है।

सुनंदा—क्या किसी पर आपकी दृष्टि पड़ी ?

दुर्धर्ष—ऐसा तो नहीं हुआ माताजी ! वहाँ का कोई राजकुमार न तो मुझे भाया, न भगिनी को; हाँ, एक मौर्य राजकुमार चंद्रगुप्त हम दोनो को पसंद आया था, किंतु उसका राज्य कुछ छोटा है, तथा उसने इस विषय को उठाया नहीं, वरन् वह यवन-देश को एक वर्ष के लिये चला गया है ।

सुनंदा—एक वर्ष कोई बहुत बड़ा समय नहीं है। जब उसके सामने महत्ता में कोई अन्य राजकुमार ठहर नहीं सकता, तब केवल राज्य-लाघव कोई बड़ी बात नहीं है। योग्यता से वह भी बढ़ सकता है।

दुर्धर्ष—है तो यही बात। क्या आप उनको जानती हैं?

सुनंदा—वह ऐसा स्वाभिमानी है कि पाटलिपुत्र के सम्राट् की कन्या के साथ संबंध की बात चलने पर स्वयं सम्राट् तथा राजकन्या से नाहीं कर बैठा।

दुर्धर्ष—ऐसा! यह बात उन्होंने मुझसे नहीं कही।

सुनंदा—वह ऐसा संयत प्रकृतिवाला पुरुष है कि अपनी बड़ाई की बात कभी कह सकता ही नहीं।

दुर्धर्ष—आपने पाटलिपुत्र की यह गुप्त घटना जानी कैसे?

सुनंदा—मैं भी वहीं की निवासिनी थी।

दुर्धर्ष—क्या राजकुमारी सुंदरी न थी?

सुनंदा—सुंदरी तो ऐसी थी कि स्वयं वह उसके रूप, गुण, विद्या, शीलादि पर मरता था, किंतु केवल एक-दो बार इतरों से उसका अनुचित घमंड देखकर असंतुष्ट हो गया।

दुर्धर्ष—ऐसा उन्होंने मुझसे कभी कहा नहीं। यदि अपराध क्षमा हो, तो एक बात आपसे भी पूछूं?

सुनंदा—पहले अपनी भगिनीवाले विषय पर कथन कीजिए।

दुर्धर्ष—उस पर कथन क्या करूँ, मत बहुत ही उचित है। आप उसे निर्णीत समझिए। पूज्य पिता से आज्ञा ले लूँगा।

सुनंदा—अच्छा, अब अपनी बात पूछने की कृपा कीजिए।

दुर्धर्ष—चाटों, भटों आदि द्वारा विदित हुआ है कि पाटलिपुत्र की राजकुमारी ने विवाह टूटने से असंतुष्ट होकर योग-साधन कर लिया है। उनके सौंदर्य की भी बड़ी प्रशंसा है। आप भी अपने को वहीं की निवासिनी बतलाती हैं। बातचीत से भी परमोच्च समाज की समझ पड़ती हैं। आप साधारण भिक्षुणी नहीं हो सकतीं। क्या आप ही तो वह राजकुमारी नहीं?

सुनंदा—युवराज महोदय ! मैं योगिनी होकर मिथ्या भाषण नहीं कर सकती । फिर भी संन्यासिनियों, योगिनियों आदि का कोई कुल-कुटुंब नहीं होता । अवस्था में आपसे छोटी होकर भी पदानुसार मैं जगन्माता हूँ, किसी की पुत्री आदि नहीं ।

दुर्धर्ष—जब तक आप नाहीं न करेंगी, तब तक मैं आपको वही राजकुमारी मानूँगा । सुन पड़ा है, तक्षशिला में गुरुवर चाणक्य तथा आर्य शकटार ने भी आपका बड़ा मान किया था । अतएव निश्चय है कि आप पाटलिपुत्र की वही राजकुमारी हैं ।

सुनंदा—मैं तो कह चुकी हूँ कि राजपुत्री न होकर मैं जगन्माता हूँ ।

दुर्धर्ष—किंतु जन्म से राजकुमारी थीं या नहीं ?

सुनंदा—इस प्रश्न का उत्तर मैं नहीं दे सकती । एक भिक्षुणी सम्राट्-कन्या होने का दर्प कैसे कर सकती है ?

दुर्धर्ष—जब दर्प ही के कारण आपने एक बार हृदयाधीश प्रेम-पात्र खोया, तब भला अब वही दर्प कैसे कर सकती हैं ? मैं एक बात पूछता हूँ, क्रुद्ध तो न हूजिएगा ।

सुनंदा—नहीं ।

दुर्धर्ष—क्या अब भी चंद्रगुप्त के संबंध में कोई इच्छा शेष है ?

सुनंदा—बिलकुल नहीं । अब मैं अपनी भलाई का विचार छोड़कर केवल इतरों का लाभ चाहती हूँ ।

दुर्धर्ष—अभी अवस्था तो कुछ है नहीं, समय पर योग-धारण भी कर लीजिएगा । यदि कोई योग्य चरण-सेवक सन्नद्ध हो, तो क्या इस विषय पर पुनर्विचार संभव नहीं ?

सुनंदा—युवराज ! अब मैं राजपुत्री न होकर एक भिक्षुणी-मात्र हूँ । यदि ऐसे ही भाव संभव होते, तो गृह-त्याग क्यों करती ? ऐसे भद्दे विचार चित्त में न लाइएगा । क्या जगन्माता से प्रेम-निवेदन योग्य है ? प्रेम-पात्री तो कई मास हुए मर चुकी, अब जगन्माता का रूप सामने है । क्षमा कीजिएगा, अब मैं जाती हूँ । अपनी स्वसा-विषयक मेरी प्रार्थना भूलिएगा नहीं ।

दुर्धर्ष—क्षमा कीजिएगा माताजी ! आपकी आज्ञा सदैव शिरोधार्य रहेगी।

इस प्रकार संभाषण करके योगिनीजी वहाँ से प्रस्थित हो गईं, और अपनी प्रिय सखी से मिलकर यत्र-तत्र विचरण के कार्य में प्रवृत्त हुईं। ईश्वराराधन भी ये दोनों सखियाँ समुचित मात्रा में किया करती थीं।

(ब) पिप्पली-कानन

उधर कन्या-रत्न के एकाएकी लुप्त हो जाने से सम्राट् धननंद के यहाँ बड़ा हाहाकार मचा। चाट-भटादि समुचित संख्या में नियुक्त हुए, जिनके प्रयत्नों से ज्ञात हुआ कि योगिनी के रूप में सुनंद देवी गुप्त भाव से पिप्पली-कानन की राजधानी में दस-बारह दिन विराजीं, और फिर सप्तसिंधु की ओर चली गईं, जहाँ फिर उनका पता न लगा, क्योंकि उस ओर साम्राज्य का अधिकार न था। सम्राट् धननंद उनका पिप्पली-कानन में रहना सुनकर बहुत अप्रसन्न हुए, और उन्हें इस मामले में मौर्य भूपाल के कुछ लगाव का संदेह हुआ। महामंत्री कात्यायन ऋषि ने इस विचार के प्रतिकूल बहुत कुछ समझाया, किंतु धननंद का क्रोध शांत न हुआ। उन्होंने यह भी कहा कि जब उस ओर के सारे महाजनपद पद-दलित हो चुके थे, तब इस छोटे-से शत्रु-राज्य के जीवित रखने की क्या आवश्यकता थी ?

महामंत्री की सम्मति पड़ी इस विषय में भी नहीं, किंतु सम्राट् ने क्रोधावेश में आक्रमण की आज्ञा प्रचारित कर दी। यथासमय पचास सहस्र सेना ने उस छोटे-से राज्य पर धावा कर दिया। मौर्य नरेश ने यह विपत्ति का दिन देखकर तुरगच्छक साँड़िनी-सवार के द्वारा महर्षि चाणक्य तथा मंत्री शकटार को सहायतार्थ सूचना भेजी।

अब ये दोनो महात्मा एकत्र होकर कर्तव्य पर विचार करने लगे। इन्होंने समझा कि इन्हीं की सम्मति से चंद्रगुप्त यवन-देश को युद्ध-विद्या सीखने जा चुके हैं। अब वह आ नहीं सकते। चाणक्य का प्रगाढ़ मित्र और सहायक पर्वतक-नरेश था। उसके अतिरिक्त इनका ध्यान आटविक

युद्धकर्ताओं पर भी गया। वे लोग मंत्री शकटार के हितू होने के अतिरिक्त पिप्पली-वनवाले मौर्यों के भी मित्र थे। जब तक पाटलिपुत्रीय सेना पिप्पली-कानन के निकट पहुँची, तब तक ये सहायक वहाँ पहुँच चुके थे। तो भी मौर्य दल कुल मिलाकर पच्चीस सहस्र से अधिक न था। नवनंद-सेनानायक की ओर से राजदूत ने आकर मौर्य नरेश विशालगुप्त से सभा में वार्तालाप किया। साम्राज्य का कथन था कि मौर्य पिप्पली-कानन छोड़कर अपने तराईवाले राज्य में सुख से रह सकते हैं। विशालगुप्त ने यह प्रस्ताव अस्वीकृत कर दिया, और दोनो ओर से युद्ध की तैयारी हुई। मौर्य नरेश ने अपने आटविक तथा पर्वतीय सहायकों को शत्रु-सेना के पिछवाड़े तथा पार्श्वों में गुप्तरूपेण लगा दिया। अनंतर एक रात्रि को आप अकेले शत्रु-सैन्येश के शिविर में जा पहुँचे। वह सेनापति इन्हें एकाकी देखकर बहुत ही आश्चर्यान्वित हुआ, और दोनो में वार्तालाप होने लगा—

सेनापति—राजाजी ! आपको इस प्रकार शत्रु-शिविर में एकाकी देखकर मैं बहुत चकित हो रहा हूँ। पाटलिपुत्र में हम दोनो साम्राज्य के सेनापति अवश्य थे, किंतु वहाँ भी हमारे व्यवहार, निजू प्रकारेण कुल मिलाकर, कुछ द्वेष-पूर्ण ही कहे जा सकते थे। तब मुझ पर ऐसे भारी विश्वास का क्या कारण है ?

विशालगुप्त—विश्वास के कारण ही तो मैंने अपने को आपके अधिकार में ला रक्खा है। प्रश्न यही है कि मैं अपने पक्ष को ऐसा न्यायानुकूल समझता हूँ कि मेरे विचार से कोई द्वेषी भी सत्य की इतनी अवहेलना न करेगा कि उसे अनुचित बतलावे।

सेनापति—तब फिर कृपया कथन कीजिए।

विशालगुप्त—पहली बात तो यही है कि सेना अपने जीवन को हथेली पर रखकर औरों के लिये जो युद्धार्थ सन्नद्ध रहती है, उसका मूल्य केवल वेतन न होकर देश-प्रेम तथा स्वपक्ष का न्याय-युक्त होना भी है। केवल पराई आज्ञा पर न्याय-हीन पक्ष के समर्थन में प्राण होमना मानी सैनिकों का काम न होकर डकैतों का है।

सेनापति—यह तो उचित ही है।

विशालगुप्त—जब इतना मान चुके, जैसा कि सज्जनता तथा उच्च विचारों से निश्चित था, तब आपकी सेवा में एकाकी आना मेरे लिये क्या भय की बात हो सकती थी?

सेनापति—क्या अपने पक्ष को आप इतना न्याय-संगत मानते हैं?

विशालगुप्त—इसमें संदेह ही क्या हो सकता है? आप ही देखिए कि मैं साम्राज्य का शुभचिंतक सेनापति तथा सहायक नरेश था। मैंने क्या पाप किया, जो निष्कारण अपने उच्च पद से पृथक् किया गया? यदि मेरे बेटे ने किन्हीं उचित अथवा अनुचित कारणों से राजपुत्री से संबंध पसंद न किया, तो इसमें उसका क्या दोष था? उसने किसी का अपमान तो किया नहीं, केवल अपने तथा स्वयं राजपुत्री के आगामी जीवन को इस संबंध से सुखप्रद न माना। मैं समझता हूँ, ऐसा मानना उसके लिये कुछ अनुचित भी हो सकता था, किंतु यह कोई राजकीय विषय नहीं था।

सेनापति—था क्यों नहीं, इससे न्यूनाधिक राजकीय अपमान था ही।

विशालगुप्त—अपमान होता उसके प्रकट होने में। केवल सम्राट् के जानने से कोई बात न थी। यदि वह अपने माननीय सेनापतियों को ऐसा गया-बीता समझते हैं कि वे नहीं, उनके पुत्र भी न चाही हुई स्त्री स्वीकार अवश्य करें, तो इसमें अपने लोगों का पद भी गिरता है।

सेनापति—है इस कथन में भी कुछ सार।

विशालगुप्त—फिर यदि मान भी लिया जाय कि पुत्र ने कोई अपराध किया, तो इसमें बेचारे पिता का क्या दोष था? पुत्र को देश-निकाला तक दे दिया जा सकता था, वरन् वह स्वयं भी बाहर चला गया है, और मेरे ऐसे गाढ़े अवसर पर भी यहाँ उपस्थित नहीं है। मैंने स्वयं सेनापतित्व के पद से त्याग-पत्र दे दिया है। जहाँ तक पिप्पली-कानन-राज्य का संबंध है, मैं अपने सभी भारों का पूर्णतया वहन करने को सन्नद्ध हूँ। ऐसी दशा में फिर यह राजकोप कैसा? यदि मेरे विना जाने राजपुत्री योगिनी के रूप में छिपकर मेरी राजधानी में दस-पाँच दिन रहीं, तो मैं क्या करता? मुझे पता

ही क्या था ? मेरे दंडपाश-विभाग को इस बात का संदेह तक न था। तब यदि उन्होंने न जान पाया, तो इसमें मेरा क्या दोष है ? स्वयं साम्राज्य के श्रेष्ठतर दंडपाश-विभाग ने उन्हें अपने ही राज्य में क्यों न पकड़ लिया ? तब आप ही आज्ञा कीजिए कि मेरे ऊपर जो यह सेन-संधान हुआ है, उसमें मेरा दोष है या साम्राज्य का ?

सेनापति—है तो यार ! अनौचित्य साम्राज्य का ही।

विशालगुप्त—तब मैं कहूँगा कि आपको किसी युक्ति से मुझ पर से यह बला हटानी चाहिए।

सेनापति—इस रोग की ओषधि भी आप ही बतलाइए।

विशालगुप्त—आप अभी अचेत-से रहने की कृपा कीजिए। मेरे आटवीय तथा पर्वतीय वीरों ने आपकी सेना को घेर रक्खा है। अचानक आक्रमण कर दूँ, और आप दल को युद्ध से मोड़ लीजिए। आपके दस-पाँच सहस्र वीर बंदी हो जायँगे। वध यथासाध्य किसी का भी न होगा। अभी तो यही युक्ति ध्यान में आती है।

सेनापति—अच्छा, यही सही। आपके ऊपर यह धावा बेजा है ही।

इस प्रकार परामर्श करके मौर्य नरेश छद्म-वेष में अपने स्थान को पलट गए, और साम्राज्य की सेना पराजित हो गई। यह दुर्घटना देखकर सम्राट् को बहुत बुरा लगा, और उन्होंने स्वयं महामंत्री का स्मरण करके उन्हें बहुत कुछ समझाया-बुझाया। उनका कथन हुआ कि चाहे युद्धारंभ अनुचित था, तो भी पराजय के पीछे अब मामला छोड़ा नहीं जा सकता। विवश होकर ऋषिवर ने महाबलाधिकृत को साथ लेकर स्वयं आक्रमण किया, तथा सेना का ऐसा उत्तम प्रबंध किया गया कि किसी प्रकार से भेद न लगने पाया। थोड़े ही संग्राम के पीछे विशालगुप्त पराजित होकर अपने तराईवाले राज्य में चले गए, तथा उनके सहायकों की दोनो सेनाएँ अपने-अपने स्थानों को वापस गईं। मौर्य नरेश इस पराजय से साम्राज्य के घोर शत्रु हो गए, तथा चाणक्य एवं शकटार से मिलकर साम्राज्य-पतन की गोष्ठी में पूर्ण योग देने लगे। अब इन सबों ने अपने सहायकों की संख्या

बढ़ाने में चित्त लगाया। इस विचार में न केवल अपने मित्रों, वरन् साम्राज्य के शत्रुओं पर भी इनका ध्यान स्वभावतः गया। ऐसे राजनीतिक संबंध में पूर्ण बल के साथ संलग्न हो जाने से तथा तक्षशिला-नरेश को स्वदेश-शत्रु समझकर चाणक्य ने महाविद्यालयवाला अपना अध्यापन-कार्य छोड़ दिया, तथा विशालगुप्त के राज्य में शकटार-सहित उपस्थित होकर खुले-खुले सेन-संधान का कार्य उठाया। तक्षशिला-नरेश का इन्हीं दिनों देहांत हो जाने से पिता के स्थान पर अंभि वहाँ का शासक हो गया था, किंतु चलता उन्हीं की नीति पर था। अध्यापक होने के नाते चाणक्य ने उसे स्वदेश-प्रेम के विषय में बहुतेरी शिक्षा दी थी, किंतु उनका कोई फल न हुआ था।

अब विशालगुप्त, चाणक्य तथा शकटार के उद्दाम प्रयत्नों से पर्वतक भूपाल तथा आटविकों के अतिरिक्त मौर्य सहायकों में अंबष्ट, शिवि, मद्र, त्रिगर्त, क्षुद्रक, यौधेय, मालव, म्लेच्छ, चोर, आश्वकायन, कठ, किरात और कांबोज आ गए। चाणक्य ने इन सबको युद्ध-शिक्षा देना भी आरंभ किया, तथा आपस में भी इन सबों का मेल करा दिया। इन सबमें कुछ तो महाजनपदोंवाली पराजयों के कारण नवनंदों के शत्रु थे, तथा बहुतेरे सप्तसिंधुवाले युद्धकर्ता स्वदेश-प्रेम तथा यवन-बल-विनाश के विचारों से आगे-पीछे चाणक्य के सहायक बने थे। देश-प्रेम तथा शत्रु-विनाश के प्रश्नों पर आपने ऐसे-ऐसे रोमांचकारी व्याख्यान विविध शक्तियों के सामने दिए थे कि जहाँ आप का जाना हुआ, वहीं के लोग सहायता को कटिबद्ध हो गए। अब प्रश्न केवल इतना रह गया कि धन भी संगृहीत हो, जिससे इन सहायकों की सेना एकत्र होकर युद्धार्थ सन्नद्ध हो सके। उस काल भारत में देश-प्रेम की मात्रा बहुत बढ़ी हुई थी, जिससे सहस्रों युद्धकर्ता केवल देश का अमंगल बचाने को युद्ध में प्राण-विसर्जन तक को सन्नद्ध रहते थे। उस समय का हमारा भारत यद्यपि वर्तमान सभ्यता की बराबरी नहीं कर सकता था, तथापि देश-प्रेम में वह हम लोगों से बहुत आगे बढ़ा हुआ था। पर्वतकों, आटविकों, शिवियों, मद्रों, क्षुद्रकों, यौधेयों, मालवों, कठों आदि के देश-प्रेम बहुत बढ़े हुए थे। महात्मा चाणक्य को मौर्य राजकुमार के वैवाहिक संबंधों से भी

तत्कालीन राजनीति में विशेप उन्नति की आशा थी। आपने विश्वास-पात्र दूतों द्वारा उन्हें समय-समय पर इधर के समाचार बतला रक्खे थे, जिसमें यवनों से संसर्ग के संबंध में वह अपनी भारतीय शक्ति से भली भाँति अभिज्ञ रहें। शकटार ने भी महात्मा चाणक्य को यथासाध्य पूरी सहायता दी थी।

षष्ठ परिच्छेद

ईरान में चंद्रगुप्त

जब तक्षशिला से विद्या-प्राप्ति के अनंतर मौर्य राजकुमार अलिकसुंदर (सिकंदर) के डेरे पर ईरान पहुँचे, तब वह वहाँ के बादशाह दारा को पराजित करके देश पर अधिकार ज़माने में लगा हुआ था। यवनों में वहाँ भी सैनिकों तथा सेनापतियों को समर-कौशल एवं शस्त्रास्त्र-प्रहार सिखलाने का प्रबंध था, जिसमें बाहर के प्रवीण विद्यार्थी भी भाग ले सकते थे। इस कारण चंद्रगुप्त को भी वहाँ शिक्षा-प्राप्ति में कोई अड़चन नहीं पड़ी, तथा इनकी महती प्रवीणता और सीखने में चोप के कारण गुरुगण इनसे बहुत प्रसन्न रहते अथच जी लगाकर सिखलाते थे। पाँच-छ मास पूर्ण उत्साह के साथ अध्ययन में भाग लेकर तथा इतर सैनिक एवं राजनीतिक विषयों पर समुचित ध्यान देकर आपने न केवल रण-कौशल और शस्त्रास्त्र-प्रहार-संबंधी अपनी उन्नति बढ़ाई, वरन् यवनों के सारे दाँव-पेंचों तथा पारस्परिक व्यवहारों का भी विवरण ज्ञात कर लिया। अलिकसुंदर सारी सेना का नेता तथा यवन-सम्राट् था। उसके कई भारी सेनानायक थे, जिनमें सेल्यूकस का पद सर्वोच्च था। उसकी बेटी हेलेन उस समय १६वें वर्ष में थी। वह अत्यंत सुंदर तथा विद्या-व्यसनी थी—गुरुओं के पास पढ़ने में मन लगाती थी। फ़िलिप्स या फ़िलिप-नामक एक सिकंदरी सेनापति भी उच्च कक्षा में था। उसका पद ऊँचा था ही, और अवस्था प्रायः २५ वर्ष की थी। हेलेन के सौंदर्य के कारण फ़िलिप उससे विशेषतया अनुरक्त था, किंतु सेल्यूकस की परमोच्च पदवी के कारण इस विषय में सभय रहकर—हेलेन पर अपनी अनुरक्ति बिना प्रकट किए ही चाहता था कि कन्या उस पर कृपालु हो जाय। हेलेन इन बातों की ओर कुछ ध्यान न देकर

अपने को बालिका-मात्र समझती थीं, तथा फ़िलिप के प्रेम-भाव-गर्भित छोटे-छोटे कार्यों को साधारण समझकर उन पर ध्यान ही न देती थी। चंद्रगुप्त की महती योग्यता तथा इनके विदेशी होने के कारण वह इनकी ओर भी न्यूनाधिक आकर्षित हुई, किंतु पूर्णतया सरल भाव से। उसके चित्त में नायक-नायिका-भाव, तिल-मात्र भी, छू न गया था। योरपीय कन्याएँ साधारण बातों में किसी प्रेम-पूर्ण भावना का विचार लाती भी बहुत कम हैं। अतएव हेलेन इनसे साधारण बातचीत प्रायः किया करती थी, यद्यपि उसके महान् सौंदर्य से आकृष्ट होकर आप किसी भाँति उसे प्रसन्न भी करना चाहते थे। एक बार उसकी इनसे यों बातचीत होने लगी—

हेलेन—मौर्य साहब ! कहिए, हिंदोस्तान से इतनी दूर आकर आप यहाँ क्यों इतनी तकलीफ़ फ़र्माते हैं ? क्या फ़ौजी तालीम आपके मुल्क में औवल दर्जे की नहीं होती ?

चंद्रगुप्त—होती क्यों नहीं देवीजी ! किंतु मेरे चित्त में विविध प्रकार के अनुभव प्राप्त करने की विशेष रुचि है। क्या आप मेरी भाषा समझ लेती हैं ?

हेलेन—समझ लेती हूँ, लेकिन बोल नहीं पाती। आप तो मेरी ज़बान समझ ही लेते हैं ?

चंद्रगुप्त—यदि ऐसा न होता, तो यहाँ शिक्षा-प्राप्ति कैसे होती ?

हेलेन—यही बात है। क्या मैं पूछ सकती हूँ कि हिंद में जादू आदि कैसे चलते हैं ? हम लोग तो सुनते हैं कि वहाँ जादू, जोग वग़ैरा का बहुत चलन है। क्या आपको भी इसका कुछ तजुर्बा हुआ है ?

चंद्रगुप्त—देवीजी ! जादू आदि की भारत-संबंधिनी कथाएँ नितांत वृथा हैं। जैसा जादू इतर देशों में चलता है, वैसा ही भारत में। सारी बात हाथ-सफ़ाई की है। हाँ, अपने यहाँ कुछ यौगिक शक्तियाँ अवश्य हैं। किसी प्रकार अग्नि की दाहिका शक्ति जीती जा सकती है, जिससे कुछ लोग जलती आग पर विना जले चल सकते हैं। इसी भाँति विषों की मारक शक्ति योग-बल से टूट सकती है। ऐसी बातें मैंने स्वयं भी देखी हैं।

हेलेन—अपना खुद देखना आप बयान न फ़र्माते, तो मैं ये दोनो बातें भी लग्व समझती। मुमकिन है, आपको किसी तरह का धोखा हो गया हो।

चंद्रगुप्त—ऐसा नहीं हो सकता था देवीजी! किंतु जिस बात में अविश्वास की संभावना हो, उस पर कथन करना ही न चाहिए।

हेलेन—तो क्या आपको यक़ीन कामिल है कि धोखे की बात न थी?

चंद्रगुप्त—अब यह विषय छोड़ ही देने के योग्य है।

हेलेन—उम्मीद है, मेरी रायज़नी से आप नाराज़ न हुए होंगे।

चंद्रगुप्त—नाराज़ी की कोई बात नहीं है देवीजी! मैंने यों ही कहा कि अविश्वास-योग्य घटना का कथन ही क्या?

हेलेन—नहीं, अगर बात सच हो, और यक़ीनी तरीक़े से देखी गई हो, तो एतबार के दायरे को ही बढ़ाना होगा।

चंद्रगुप्त—तब विवश होकर कहता हूँ कि मैं स्वयं जलती हुई आग में एक योगी के मंत्र-बल से चल चुका हूँ, तथा एक अन्य योगी को मैंने स्वयं विष, शीशा, सांप का सिर आदि खाकर न मरते हुए देखा है।

इतने में फ़िलिप महोदय भी वहीं आकर वार्तालाप में सम्मिलित हो गए।

हेलेन—दोस्त फ़िलिप! देखिए, आप हिंद से यहाँ फ़ौजी काम सीखने आए हैं। नाम इनका सैंड्रोकोटस है।

फ़िलिप—(चंद्रगुप्त से हाथ मिलाकर) मैं आपसे मिलकर बहुत खुश हुआ। क्या आपके मुल्क में ऊँची फ़ौजी तालीम नहीं मिलती?

चंद्रगुप्त—मिलती क्यों नहीं, किंतु मैं बाहरी अनुभव भी चाहता हूँ।

फ़िलिप—है यह भी बहुत ठीक। अभी किस मज़मून पर बातें हो रही थीं, जो मेरी वजह से रुक गईं? शायद मैंने गुफ़्तगू में खलल डाला?

हेलेन—कोई खलल नहीं पड़ा। हम लोग हिंद में जादू और जोग की बात कर रहे थे। जादू तो आप भी नहीं मानते, लेकिन दो बातें जोग की चश्मदीद बतलाते हैं।

फ़िलिप—बड़े तअज्जुब की बात है। आजकल मैंने भी उधर की दो योगिनियों को इसी जानिब इधर-उधर फिरते देखा है।

चंद्रगुप्त—बड़ा आश्चर्य है; मुझे तो वे मिली नहीं।

हेलेन—न मैंने ही देखा है। तअज्जुब की कौन-सी बात है? जब इधर हैं ही, तब कभी-न-कभी मिल ही जायँगी।

फ़िलिप—मिस साहबा! आजकल पढ़ाई-लिखाई कैसी चलती है?

हेलेन—सब ठीकठाक है। (चंद्रगुप्त से) क्या मैं जान सकती हूँ कि आपके वालिद बुज़ुर्गवार वहाँ क्या करते हैं?

चंद्रगुप्त—देवीजी! वह पिप्पली-कानन तथा तराई के राजा हैं। सम्राट् घननंद के सेनापति भी थे, किंतु इन दिनों वह मुझ पर अप्रसन्न हो गए, जिनसे पिताजी को नौकरी से त्याग-पत्र देना पड़ा, तथा उनका पिप्पली-काननवाला राज्य भी छिन गया। अब वह अपने तराईवाले राज्य में रहते हैं।

हेलेन—आपसे इतनी शाही नाखुशी का क्या सबब था?

चंद्रगुप्त—देवीजी! यह एक गुप्त विषय है, जिसे प्रकट करने का मुझे पूर्ण अधिकार नहीं, क्योंकि वह अन्य व्यक्तियों से भी संबंध रखता है।

फ़िलिप—क्या वहाँ की शहज़ादी आपको चाहने लगी थी, जिस पर शहंशाह नाराज़ हुआ?

हेलेन—जब वह कोई बात बतलाना नहीं चाहते, तब आपको उस पर गद्देबाज़ी न करना चाहिए। क्या हमारे यूनान की यही तहज़ीब है? वह एक बाहरी शहज़ादे होकर हम लोगों के निस्बत क्या ख़याल करेंगे?

फ़िलिप—मुआफ़ कीजिएगा मिस साहबा! मुझसे ग़लती हो गई।

चंद्रगुप्त—क्षमा की कोई बात नहीं है सेनापति महोदय! किंतु यह बात प्रकट करने का मुझे अधिकार नहीं है।

फ़िलिप—मुआफ़ कीजिएगा शहज़ादे साहब!

चंद्रगुप्त—मुआफ़ी माँगने की ज़रूरत नहीं है जनरल साहब!

फ़िलिप—बड़ी मेहरबानी। कहिए, आजकल पढ़ाई-लिखाई कैसी चल रही है?

चंद्रगुप्त—अध्यापक महोदयों की मुझ पर विशेष कृपा रहती है, जिससे मेरी समर-शास्त्र-संबंधिनी ज्ञानोन्नति अच्छी हो रही है।

फ़िलिप—आपने हिंद में भी फ़ौजी तालीम हासिल की होगी ?

चंद्रगुप्त—अवश्य ।

फ़िलिप—भला, यहाँ-वहाँ के फ़ने-जंग में क्या फ़र्क़ है ?

चंद्रगुप्त—हमारे यहाँ हाथियों का व्यवहार होता है, और रथों का भी । इधर यूनान में पैदल और सवार ही विशेष हैं, किंतु आपके सवार हमारे सवारों से बढ़कर दिखते हैं। हमारे यहाँ धनुष-बाण का विशेष प्रयोग है, किंतु यहाँ गोली चलती है ।

फ़िलिप—क्या आप समझते हैं कि हिंद की फ़ौज हमारी फ़ौज से पूरी टक्कर ले सकती है ?

चंद्रगुप्त—मैं तो समझता हूँ कि यह प्रश्न सैन्य-बाहुल्य अथवा लाघव से संबद्ध है । हैं दोनो सेनाएँ प्रबला । फलाफल समय पर शायद संख्याओं के अनुसार चलें ।

फ़िलिप—बात तो आपकी बहुत जँची हुई समझ पड़ती है ।

इस प्रकार संभाषण के पीछे ये तीनो व्यक्ति पृथक् हुए । कुछ दिनों के अनंतर एक अवसर पर चंद्रगुप्त की हेलेन से फिर बातचीत होने लगी ।

हेलेन—शहज़ादे साहब ! उस दिन आपने जोग के बाबत कुछ बातें की थीं । इत्तिफ़ाक़ से हिंद की दोनो जोगिनी औरतें एक दिन मुझे घूमती-फिरती मिल गईं । उनमें से एक बहुत ही ख़ूबसूरत है । क्या जोगिनी होकर अब वह शादी वग़ैरा नहीं कर सकती ?

चंद्रगुप्त—करना तो न चाहिए । उसकी अवस्था क्या होगी ?

हेलेन—मैं समझती हूँ, १८ या १९ साल की होगी । उसने अभी से जोग क्यों ले लिया ? क्या मा-बाप ने उसे रोका नहीं ?

चंद्रगुप्त—रोका अवश्य होगा; न माना होगा । क्या मैं जान सकता हूँ कि आपसे क्या बातें करती थीं ?

हेलेन—आपकी बड़ी तारीफ़ करती थीं । जो बात आपने उस दिन न बतलाई थी, वह भी बिला पूछे कह गईं । कहती थीं कि आपने शहंशाहे-हिंद की बेटी से शादी करने से इनकार कर दिया है । अपने ही कहने के

मुताबिक़ आप छोटे-से राजा के लड़के हैं, फिर ऐसी शादी छोड़ क्यों बैठे ? अगर जवाब देने में कोई राज़ खुलता हो, तो मैं तकलीफ़ नहीं देना चाहती।

चंद्रगुप्त—गुप्त भेद की बात तो है ही, किंतु जब अन्य प्रकार से वह आप पर विदित हो चुकी है, तब उत्तर देने में अब क्या कठिनाई है।

हेलेन—तब फिर बयान फ़र्माइए। आप भी बड़े ज़िद्दी और बुलंद खयाल के शहज़ादे समझे जा सकते हैं।

चंद्रगुप्त—देवीजी ! मैं तो एक साधारण पुरुष-मात्र हूँ, किंतु विवाह का विषय सारे जीवन के दुःख-सुख से संबद्ध है। उसे शीघ्रता से कैसे निश्चित करता ? मैं एक साधारण राज्य का उत्तराधिकारी था। इतनी बड़ी राजपुत्री ऐसी स्थिति से कैसे प्रसन्न रहती ? मुझे उस संबंध से लाभ अवश्य होता, किंतु राजपुत्री का जीवन संभवतः दुःखमय हो जाता। यही भय मुझे न छोड़ता था।

हेलेन—क्या उन्हीं ने शादी की बात चलाई थी ?

चंद्रगुप्त—था तो ऐसा ही। फिर भी मुझे संदेह हुआ कि छोटी बालिका होने से वह पूरा विचार उत्तमता से शायद कर सकने के अयोग्य हों।

हेलेन—बात तो आपकी ऊँचे खयालात की थी, फिर भी आपके ज़रिए उनकी दिलशिकनी हुई होगी।

चंद्रगुप्त—हुआ तो ऐसा अवश्य, किंतु तभी से मुझे पता न लगा कि उन्होंने मेरे चले आने के पीछे क्या किया ? बड़े आश्चर्य की बात है कि आपको मिलनेवाली योगिनी ने मेरा यह गुप्त भेद कैसे जान लिया !

हेलेन—क्या शहंशाह शादी कर देने को तैयार थे ?

चंद्रगुप्त—यही तो था, और इसी से उन्हें मुझ पर क्रोध विशेष हुआ। उनको दिखा कि मेरे द्वारा अपमान हो रहा था।

हेलेन—थी तो एक तरीक़े से यही बात, लेकिन इससे इतनी नाराज़ी ठीक न थी। शादियों में ज़बरदस्ती बेजा है। क्या शहज़ादी ख़ूबसूरत है ?

चंद्रगुप्त—सुंदरी तो वह सहस्रों में एक है।

हेलेन—तब तो मैं कहूँगी कि आपने ग़लती की।

चंद्रगुप्त—केवल सुंदरता सब कुछ नहीं है। अन्य सद्गुणों की भी आवश्यकता होती है। सुंदरी आप भी क्या कम हैं?

हेलेन—क्या वह मुझसे बढ़कर सुंदरी थी या कम?

चंद्रगुप्त–इसका निर्णय कठिन है। मैं तो आपको उनसे बढ़कर रूपवती मानता हूँ।

हेलेन—रूप की परख आप कैसे करते हैं?

चंद्रगुप्त—रूप प्रायः स्वास्थ्य पर निर्भर है। रंग अच्छा होना चाहिए, आँख कुछ बड़ापन लिए हुए हो, मुख सुडौल हो, न बहुत गोल, न बहुत लंबा। न मोटापन हो, न बहुत दुबलापन। इन बातों के अतिरिक्त सद्गुण भी आवश्यक हैं। सबसे बढ़कर द्रष्टा की रुचि प्रधान है।

हेलेन—बयान तो आपने ठीक किया। अच्छा, वह जोगिनी मुझसे बढ़कर सुंदरी क्या नहीं है? मैं तो कम-से-कम रूप में उसे अपने बराबर समझती हूँ।

चंद्रगुप्त—जब मैंने उसे देखा नहीं, तब कह क्या सकता हूँ?

हेलेन—यह बात मुझे भूल ही गई थी। अच्छा, जोग की कोई और भी ताक़तें आपने देखी हैं क्या?

चंद्रगुप्त—योगी लोग कुछ देर के लिये अपने हृदय की गति रोक सकते हैं, तथा छोटे-से वायु-शून्य स्थान में बिना नवीन हवा के दो-तीन दिन जीवित रह सकते हैं।

हेलेन—क्या ये बातें भी आपने देखी हैं?

चंद्रगुप्त—ये तो नित्य के खेल हैं। सहस्रों भारतीय इन्हें देखे बैठे हैं। इनसे इतर कही बहुतेरी बातें जाती हैं, किंतु मेरी देखी हुई नहीं हैं।

हेलेन—जितनी ख़ुद आपने देखी हैं, वे ही क्या कम हैं? अच्छा, शादी के निस्बत ज़नोशू में किस तरह की मुहब्बत हिंद में ठीक समझी जाती है?

चंद्रगुप्त—दोनो एक दूसरे से निष्कपट प्रेम करते हों, तथा बिना किसी आशा के संगति-मात्र से प्रसन्न रहते हों। दोनो में से किसी को किसी अन्य

के साथ चांचल्य का विचार न हो। कन्या वर से चार-पाँच वर्षों से कम छोटी न हो। दोनो के रूप-गुण एक दूसरे को पसंद हों।

हेलेन—यही सब तो हमारे यहाँ के भी खयालात हैं। क्या हिंद में औरतें शौहरों की दबायल नहीं रहतीं ?

चंद्रगुप्त—किंचिन्मात्र नहीं। ऐसे विचार हम लोगों के द्वेषियों द्वारा फैलाए गए हैं।

हेलेन—नहीं, मैंने ऐसा कुछ सुना नहीं है; यों ही एक बात पूछ दी।

चंद्रगप्त—आपके यहाँ कन्याओं के लिये विवाहार्थ कौन-सी अवस्था ठीक समझी जाती है ?

हेलेन—कम-से-कम अट्ठारह वर्ष की।

चंद्रगुप्त—तब अभी आपके लिये यह प्रश्न विचारणीय तक नहीं है।

हेलेन—बिलकुल नहीं; अभी मेरी उम्र ही क्या है। ऐसी बात आपके खयाल में आई कैसे ?

चंद्रगुप्त—यों ही बातों-ही-बातों एक बात पूछ बैठा, कोई वास्तविक प्रस्ताव का विषय न था।

हेलेन—बड़ी कृपा। अभी मैं बहुत छोटी हूँ। माता-पिता की गुड़िया-मात्र हूँ। साल-दो साल पीछे शायद ऐसे प्रश्न मेरे लिये भी सोचे जाने लगें।

इन दोनो में इस प्रकार बातें हो ही रही थीं कि अकस्मात् फ़िलिप महोदय भी आ गए। दोनो से नमस्कारादि होकर वह भी बातें करने लगे।

फ़िलिप—(चंद्रगप्त से) शहज़ादे साहब ! आजकल मैं समझता हूँ कि आपका दिल हुसूले-इल्म में पहले की तरह नहीं लगता।

चंद्रगुप्त—इससे आपको क्या प्रयोजन है ? सेनापति महोदय ! मैं कुछ आपके सम्राट् का सेवक नहीं कि आपकी कार्य-संबंधी दृष्टि मेरे ऊपर रहे। बात क्या है ?

हेलेन—इस सवाल से तअज्जुब कुछ मुझे भी हुआ।

फ़िलिप—मिस साहबा ! मुझे शहज़ादे साहब के कामों से कोई मतलब

नहीं, मगर मैं सिर्फ़ इतना समझता हूँ कि हमारे बड़े जनरल साहब की साहबज़ादी का वक़्त कोई ज़ाया न करे।

हेलेन—जनाब फ़िलिप साहब ! क्या आप मेरे वली मुक़र्रर हुए हैं, जो किसी से बात करने के लिये आपसे इजाज़त हासिल करने की ज़रूरत हो ?

फ़िलिप—मुआफ़ कीजिएगा, मिस साहबा ! मेरे मुँह से यों ही एक बात निकल गई। सिद्क़ दिली से मुआफ़ी का ख्वास्तगार हूँ।

हेलेन—नहीं, मैं जानना चाहती हूँ कि आप मेरे कौन हैं, जो मेरी किसी से गुफ़्तगू में खलल डाल सकें, या शुबहा-आमेज़ बदतमीज़ी की गुफ़्तगू करें ? आपकी इन बेहूदा हरकात से मंशा क्या है ? शहज़ादे साहब पढ़ें या न पढ़ें, या अपना पूरा वक़्त ज़ाया करें, आपका इससे क्या सरोकार था, जो आप तशरीफ़ लाकर बेवक़ूफ़ी से हमारे दर्मियान में कूदे ? मैं वालिद माजिद की ख़िदमत में ज़ाहिर करूँगी कि उनका बदतमीज़ मातहत मेरी और मेरे दोस्त की तौहीन करता है।

फ़िलिप—मिस साहबा ! एक मर्तबा मुआफ़ कर दीजिए। मुझसे सख़्त ग़लती सरज़द हो गई।

हेलेन—अच्छा, इनायत करके तशरीफ़ ले जाइए; अब कभी अपना काला मुँह मुझे न दिखलाइएगा, न कभी मेरी बातों में इस तरह मुखिल होने की जुरात कीजिएगा। क्या मैं कभी आपकी माशूक़ा थी, या अब हूँ, जो आप दूसरों से मेरी मामूली बातें देखकर रक़ाबत की आग में जलने लगते हैं ?

फ़िलिप—ऐसा कुछ नहीं है मिस साहबा ! मेरे मुँह से यों ही एक बात निकल गई। मुआफ़ी बख़्शी जाय।

इस प्रकार भग्नोत्साह होकर फ़िलिप महोदय तो वहाँ से चले गए, और जब चंद्रगुप्तजी चलने लगे, तब हेलेन ने उन्हें रोककर कहा।

हेलेन—इस मुए की वजह से आप क्यों जा रहे हैं ? मैं इस नालायक़ का मुँह नहीं देखना चाहती। मुझे सख़्त अफ़सोस है कि मेरी वजह से एक

बेवक़ूफ़ यूनानी ने आपसे तौहीन-आमेज़ अल्फ़ाज़ कहे। उसकी बदतमीज़ी के लिये मैं ख़ुद आपसे मुआफ़ी माँगती हूँ।

चंद्रगुप्त—मैं अनेकानेक धन्यवाद अर्पित करता हूँ। आप मानुषी नहीं, देवी हैं। यदि मेरे मुँह से कभी कोई अनुचित शब्द निकल जाय, तो क्षमा करती रहिएगा।

हेलेन—आप एक लायक़ हिंदी हैं, न कि इस यूनानी के-से बेवक़ूफ़। भला, आपके मुँह से कभी कोई बेजा बात निकल सकती है?

इस प्रकार वार्ता करके ये दोनो भी पृथक् होकर अपनी-अपनी ओर चले गए। मौर्य राजकुमार को यह जानने की स्वाभाविक चिंता हुई कि दोनो भारतीय योगिनियाँ कौन हैं, जो देश से इतनी दूर ईरान में फिर रही हैं, तथा वहाँ आने का उनका प्रयोजन क्या है? उन्होंने अपने अनुयायियों से कह दिया कि उनका पता लगना चाहिए। धीरे-धीरे यत्र-तत्र विचरण करते हुए एक दिन इन्हें वे दोनो मिल ही गईं। उन्हें देखते ही चंद्रगुप्त को बड़ा ही आश्चर्य हुआ, और भेद न खुलने के विचार से आप किसी एकांत स्थल पर ले जाकर बात करने में प्रवृत्त हुए।

चंद्रगुप्त—प्रिय राजपुत्री महोदया! मैं यह क्या देख रहा हूँ? अपने साम्राज्य से इतनी दूर केवल सखीजी के साथ इस अद्‌भुत रूप में आप यहाँ कैसे फिरती हैं? सम्राट् और सम्राज्ञी ने आपको ऐसा करने की आज्ञा कैसे दी, और स्वयं आपने यह विचित्र वेष कैसे धारण किया? इसका अभिप्राय क्या है? कहाँ पाटलिपुत्र की एकमात्र पूज्या राजपुत्री, और कहाँ ईरान में फिरनेवाली प्रायः एकाकिनी भिक्षुणी! यह मैं क्या देख रहा हूँ? देवीजी!

सुनंदा—आप तो साथ-ही-साथ इतने प्रश्न पूछ गए कि उत्तर किस-किसका दूँ? सबसे पहले इतना ही जान लीजिए कि अभिमानिनी राजपुत्री मर चुकी; अब केवल एक दीन भिक्षुणी जीवित है। इसे राजकुमारी कहकर पुकारने का आपको अधिकार नहीं है, न अब यह गृहस्था है। अब तो मैं जगन्माता हो चुकी हूँ। इसी के साथ इतनी प्रसन्नता भी है कि

आपको इससे कोई कष्ट न हो सकेगा, क्योंकि गार्हस्थ्य जीवन के संबंध में मेरा-आपका सौहार्द डेढ़-दो साल से भंग हो चुका है। अब तो मुझे जो कुछ सहायता देनी हो, वह धार्मिक जीवन के संबंध में दीजिए।

चंद्रगुप्त—प्राणेश्वरी ! क्या कह रही हो ? मैंने आपको परखने में भारी भूल की। मुझे मरण से बढ़कर दुःख इस बात का इसी समय से हो रहा है कि मैंने एक परमोच्च मानस-पूर्ण राजपुत्री को प्रायः दो सालों के लिये घोर कष्ट दिया। फिर भी आपको एकाएकी गेरुए वस्त्र न धारण कर लेने थे। मैं अपनी भूलों पर पूर्ण से अधिक पश्चात्ताप प्रकट करता हूँ। अब इस दीन प्रार्थी के सारे दोष भुलाने का औदार्य दिखलाकर अपना पुराना विचार सफल करने का इसे अवसर दीजिए। आपके परमोच्च मानस का अपकार करके मैंने जो महत्पाप कमाया है, उससे मुक्त करने की शक्ति ईश्वर ने केवल आपको प्रदान की है। आप साक्षात् देवी हैं। मुझ-से अधमों के पाप भूल जाने का औदार्य दिखलाने की प्रार्थना भी शायद अनावश्यक है, क्योंकि आपका परमोच्च मानस क्षमा का आकार है। ऐसी क्षमा-प्राप्ति के अर्थ मुझे प्रार्थना भी न करनी पड़ेगी, यही न केवल आशा, वरन् निश्चय है।

सुनंदा—राजकुमार! आपने मेरा कोई अपमान किया ही नहीं, जिसके लिये क्षमा की आवश्यकता हो। जो विचार अभिमानी प्रकृति-परिवर्तन के प्रतिकूल आपने प्रकट किए थे, वे पूर्णतया प्राकृतिक थे, तथा मेरे भारी हठ के पीछे कहे गए थे। किसी का शुद्ध मानसिक भाव सहठ जानना और फिर उसे अपमान के रूप में ग्रहण करना क्या एक न्यायी अथवा मनीषी व्यक्ति को शोभा देता है ? आप ऐसे क्षुद्र विचारों के लिये अपने को दोषी न ठहराइए। आपने मेरी प्रेम-प्रार्थना अस्वीकृत की ही कब थी ? साल-दो साल में जब भ्रम दूर हो जाता, तब साफल्य निश्चित था ही। वह तो पितृचरण का साम्राज्य-दर्प एवं चांचल्य था, जिसने मेरा-आपका भावी संबंध तोड़ दिया। आप यदि मुझसे चलते समय मिलना चाहते, तो राज्य-व्यवहार के कारण छिपाकर ही ऐसा संभव था, जिसके लिये हम दोनो में से एक भी प्रस्तुत न था।

चंद्रगुप्त—यह तो माना, किंतु कपड़े क्यों रँग लिए ?

सुनंदा—जब किसी इतर व्यक्ति से वैवाहिक संबंध न रुचा, और गार्हस्थ्य जीवन बिताते हुए भी उसकी पूर्णता अप्राप्य हो गई, तब उससे उच्चतर जीवन-प्राप्ति के विचार से मैंने परमात्मा की शरण ले ली। छिपकर यत्र-तत्र फिरते हुए तथा पिप्पली-कानन होते हुए तक्षशिला पहुँची। वहाँ से परोपकार तथा भवदीय दर्शनेच्छा के विचार से इधर आ गई।

चंद्रगुप्त—केवल दर्शन से क्या होता है, जब तक उसका फल प्राप्त न हो ?

सुनंदा—फल तो आनंद है, जो मिल चुका।

चंद्रगुप्त—क्या उस आनंद की पूर्णता हो चुकी ?

सुनंदा—अवश्य। मानुष-संबंध से जितना आनंद प्राप्य है, उससे कहीं बढ़कर दैवी सुख है, जिसका अभी आप अनुभव नहीं कर रहे हैं।

चंद्रगुप्त—यह तो कथन-मात्र का विषय है।

सुनंदा—ऐसे विचारों से प्रकट होता है कि आपने लौकिक तथा राजनीतिक विषयों का जैसा समीचीन अध्ययन किया है, वैसा धार्मिक का नहीं।

चंद्रगुप्त—क्या ओस-कण चाटने से पिपासा जा सकती है ? ऐसे ऊँचे भाव कहने-सुनने में तो अच्छे दिखते हैं; किंतु उनसे वास्तविक मनस्तुष्टि कहाँ प्राप्य है ?

सुनंदा—ऐसी दशा उन्हीं की होती है, जो धर्म-विहीन स्वार्थ-साधक-मात्र हैं। समझ पड़ता है, आपने उच्च धार्मिक भावों का न तो अनुभव किया है, न उन पर समुचित मनन।

चंद्रगुप्त—किया सब कुछ है, किंतु अपने कारण मैं आपको एक भिक्षुणी बनने न दूँगा। मान जाइए राजपुत्री ! क्रोध छोड़ दीजिए। मेरा अपराध भारी होकर भी अक्षम्य नहीं माना जा सकता प्राणेश्वरी ! मैं इस मस्तक को आपकी पुनीत चरण-रज से पवित्र करना चाहता हूँ।

दत्तापहार क्या पातक नहीं ? आपने मुझे प्रेम-दान दिया है । मैंने मूर्खता-वश एक बार उसका निरादर अवश्य कर डाला, किंतु एक बार की दी हुई वस्तु फेर लेने का अधिकार आपको भी नहीं है । आपने स्वयं आज्ञा की थी कि भवदीय आगामी आचरण से मेरा संदेह दूर हो जाने का था । आपने इसके लिये साल-दो साल का कथन किया था । मैंने इस विचार को अस्वीकार तो न किया । अब मेरा भ्रम पूर्णतया दूर हो चुका है । अतएव मेरी विशुद्ध प्रेम-प्रार्थना स्वीकार की जाय ।

सुनंदा—गुरुदेव ने आपका विवाह राजनीति से करके लौकिक संबंध उसके साधन-मात्र बतलाए थे, और आपने यह आज्ञा प्रसन्नता-पूर्वक स्वीकार की थी । अतएव आपकी विवाहिता स्त्री उपपत्नी-मात्र रह जाती है । मैंने विवाहार्थ आपको आत्मदान देने का विचार किया था, ऐसी उपपत्नी बनने को नहीं ।

चंद्रगुप्त—यदि मैं उस निबंध को अमान्य कर दूँ, तो ?

सुनंदा—तब आप एक पापी होकर न केवल अपना धर्म छोड़ेंगे, वरन् मेरा भी छुड़ाएँगे । यदि गुरुदेव की आज्ञा माननीय न थी, तो उसे स्वीकार ही क्यों किया था ?

चंद्रगुप्त—देवीजी ! अब ऐसे कुतर्क छोड़कर शुद्ध प्रेम-मार्ग पर क्यों नहीं आतीं ? राजनीति कोई स्त्री नहीं, जिससे किसी का विवाह हो सके । मान जाइए मानिनीजी ! मेरी प्रेम-पूर्ण बिनती न ठुकराइए । जो पातक एक बार मैंने किया था, वही अब आप कर रही हैं ।

सुनंदा—विवाह किसी कन्या से हो सकता है, अथवा माता से ?

चंद्रगुप्त—कहीं माता से किसी ने विवाह किया है ?

सुनंदा—फिर मैं तो अब लोक-माता हूँ; मेरा अपने ही एक प्रिय पुत्र से विवाह कैसा ?

चंद्रगुप्त—सखीजी ! आप मौन क्यों हैं ? अपनी हठीली भगिनी को समझाने की कृपा क्यों नहीं करतीं ?

सखी—राजपुत्र, मेरी सखी से यह प्रेम-पूर्ण विवाद आपको एकांत

में करना था, मेरे सम्मुख नहीं। फिर भी मेरी सखी ने मेरे ही आगे यह विवाद कदाचित् इसलिये चलने दिया कि इन्हें धर्म-पंथ से डिगना न था। इन्हें तथा आपको पूर्ण अवसर देने के कारण मैंने बीच में कुछ कहा नहीं। अब आप ही समझ लीजिए कि अपनी प्रिय सखी को मैं अधर्म-पूर्ण शिक्षा कैसे दे सकती हूँ ?

चंद्रगुप्त—(सुनंदा से) प्राणेश्वरी ! क्या मेरी प्रार्थनाएँ अब सारी-की-सारी व्यर्थ हैं ?

सुनंदा—जितनी बार आप ऐसी प्रेम-पूर्ण उपाधियों से मेरा स्मरण करते हैं, उतनी ही बार पाप के भागी होते हैं। अब जल शीश के ऊपर निकल जा चुका है। मैं धर्म-पथ से विचलित नहीं हो सकती। दृढ़ता-पूर्वक यही मार्ग मैंने अपने लिये निश्चित कर लिया है। आप एक बार मेरी मानसिक दृढ़ता के अविश्वासी हो चुके हैं। इस बार आपको उसे मानना ही पड़ेगा।

चंद्रगुप्त—मैं उस घड़ी को हृदय से कोसता हूँ, जब ऐसी मूर्खता कर बैठा।

सुनंदा—अब भी तो वही किए जा रहे हो।

चंद्रगुप्त—क्या ऐसा विचार है कि जहाँ उस काल प्रेम-प्राप्ति में दृढ़ता न मानी, वहाँ अब प्रेम-त्याग पर अविश्वासी हो रहा हूँ ?

सुनंदा—प्रेम-त्याग क्यों, वरन् ईश्वरीय प्रेम-प्राप्ति का अब प्रश्न है। कृपया आजन्म की संगिनी के चरित्र को न समझ सकने की भूल अब तो न कीजिए। मेरे लिये धार्मिक भाग्य की शाखा झुक चुकी, जिसे मैंने दृढ़ता से पकड़ रक्खा है। आपने राजनीति से विवाह किया है। उसी पर अब दृढ़ रहिए।

चंद्रगुप्त—उस पर तो दृढ़ हूँ, किंतु इन चरणों पर प्रार्थनाओं की सुमनांजलि सदैव चढ़ाता रहूँगा।

सुनंदा—मुझे सदैव नाहीं कहने का कष्ट देने पर क्यों बद्ध-परिकर हैं ?

चंद्रगुप्त—मेरा जीवन ही आपको कष्ट देने को है; करूँ, तो क्या करूँ ?

सुनंदा—एसा अब तक तो है नहीं, क्योंकि आप ही की नाहीं से मुझे ईश्वरीय भक्ति की प्राप्ति हुई है। फिर भी भविष्य में ईश्वर के लिये एक जगन्माता से दांपत्य प्रेम की भिक्षा न माँगिएगा।

चंद्रगुप्त—मान आपका सदैव योगिनी का-सा करूँगा ही, किंतु माता हों या नहीं, जब मिलूँगा, तब पहले प्रेम-भिक्षा अवश्य माँग लूँगा चाहे ऐसा करने में घोर पाप का ही भागी क्यों न हुआ करूँ।

सुनंदा—अब जाना, दृढ़ता आपमें भी पूरी है। भविष्य में हम दोनो के साक्षात्कार में नित्यप्रति दृढ़ता की भी परीक्षा हुआ करेगी।

चंद्रगुप्त—यही बात है प्राणेश्वरी! अच्छा, अब यह बतलाने की कृपा हो कि हेलेनदेवी से मेरे द्वारा अपने प्रेम के त्याग का कथन क्यों हुआ?

सुनंदा—मैं समझती हूँ कि आप उसे चाहते हैं, इसीलिये उससे आपका प्रेम-मार्ग सुगम करने को मैंने ऐसा कहा।

चंद्रगुप्त—क्या एक जगन्माता के लिये ऐसी बातों में पड़ना योग्य है?

सुनंदा—क्या माता पुत्रों के विवाह देखने को उत्सुक नहीं रहती?

चंद्रगुप्त—क्या उनसे आपका शुद्ध विवरण बतला सकता हूँ?

सुनंदा—यथासाध्य नहीं; पूर्ण निषेध भी नहीं है।

चंद्रगुप्त—अच्छा, तक्षशिला में क्या होता रहा?

सुनंदा—वहाँ विदित हुआ कि राजपुत्री दुर्धरा आपकी प्रेम-पात्री है, किंतु संकोच-वश आपने उससे यह बात प्रत्यक्ष रूप से प्रकट न की। उधर ध्वनि-व्यंग्यों का अर्थ वह बालिका समझ न पाई।

चंद्रगुप्त—था तो यही; फिर आपने क्या किया?

सुनंदा—मैंने प्रत्यक्ष कथन करके उससे स्वीकार करा लिया, तथा गुरुदेव की आज्ञा लेकर उसके भ्राता और पिता की भी स्वीकृति ले ली। अब विवाह निश्चित है, आपके उधर पलटने-मात्र की देर है।

चंद्रगुप्त—इतना कष्ट क्यों उठाया गया?

सुनंदा—परोपकारवाले व्रत के पालनार्थ।

चंद्रगुप्त—तब क्या इधर हेलेन से भी ऐसी बातें योग्य हैं?

सुनंदा—राजों के एकाधिक विवाह हुआ ही करते हैं।

चंद्रगुप्त—अनेकानेक धन्यवाद ! यदि मेरी प्रार्थना भी मान ली जाती, तो इस कृतज्ञता में पूर्णता आ जाती।

सुनंदा—संसार में सिवा परमात्मा के और किसी में पूर्णता का उदाहरण नहीं मिलता। अब जाने की आज्ञा मिले।

चंद्रगुप्त—यहाँ कब तक विराजने की इच्छा है ?

सुनंदा—जब तक आप रहें।

चंद्रगुप्त—क्या कभी यहाँ प्रसाद पाइएगा ? बड़ी कृपा होगी।

सुनंदा—प्रायः नहीं।

चंद्रगुप्त—कभी-कभी ऐसी कृपा करने में तो दोष नहीं है ? दोनो योगिनियों के विषय में यह प्रार्थना है।

सुनंदा—यदा-कदा में दोष नहीं है।

इस वार्ता के पीछे दोनो योगिनियाँ अपने विचरण के कार्य में प्रवृत्त हुई।

सप्तम परिच्छेद

हेलेन और चंद्रगुप्त

योगिनी सुनंदा से इस प्रकार वार्तालाप के पीछे मौर्य राजकुमार एक दिन-भर देर तक विषण्ण-मन रहकर उनकी मानसिक उन्नति की मन-ही-मन प्रशंसा करते रहे। अनंतर दृढ़ता-पूर्वक चित्त को स्ववश करके अध्ययन के कार्य में दत्तचित्त हुए। एक बार अकस्मात् घूमने-फिरने में इनकी भेंट फिर से हेलेनदेवी से हो गई, और वार्तालाप होने लगा—

हेलेन—कहिए, शहज़ादे साहब ! तालीम का काम-काज तो अच्छी तरह चला जा रहा है न ?

चंद्रगुप्त—देवीजी की कृपा से अस्त्र-शस्त्रों के प्रयोग तथा रण-कौशल की प्राप्ति में समुचित उन्नति हो रही है। आशा है, फ़िलिप महोदय को मेरे कालापव्यय पर अब कोई आरोप न करना पड़ेगा।

हेलेन—वह तो बड़ा ही बेवक़ूफ़ है; पीछे से मुझसे बहुत आरज़ू-मिन्नत करता रहा, और मैंने भी उसे जी तक से माफ़ कर दिया है।

चंद्रगुप्त—बात ही ऐसी क्या थी ? उसे शायद संदेह हो गया था कि मैं देवीजी से प्रेम-प्राप्ति का प्रयत्न कर रहा था ?

हेलेन—तो इसमें भी क्या ऐब था ? ऐसा हुआ ही करता है। उस खूसट का इससे क्या बिगड़ता था ?

चंद्रगुप्त—वह भी इसी युक्ति में समझ पड़ते थे।

हेलेन—मुझसे नौ बरस बड़ा है वह नालायक़। भला, ऐसे खबीस को क्या मैं फूटी आँख भी देख सकती हूँ ?

चंद्रगुप्त—जाने भी दीजिए उसका विवरण। कहिए, आप तो इन दिनों प्रसन्न रहीं।

हेलेन—आपकी मेहरबानी से बहुत खुश रही। सुना, वे दोनो योगिनी आपको भी मिली थीं, बल्कि आपसे उनकी देर तक बात भी हुई।

चंद्रगुप्त—ऐसा ही है, देवीजी! मैं उनको भारत में भी जानता था।

हेलेन—वे हैं कौन? बनी हुई तो फ़क़ीरनी हैं, मगर समझ किसी आला खानदान से पड़ती हैं। क्या उनका हाल बतला सकते हैं?

चंद्रगुप्त—बतला क्यों नहीं सकता? किंतु उन्होंने योग साध लिया है, जिनमें अपना प्रकट होना अच्छा नहीं समझतीं। यदि यह विषय नितांत गुप्त रखने का वचन दिया जाय, तो कह सकता हूँ।

हेलेन—जानने की ज़िद तो मुझे है नहीं, लेकिन उनमें से एक जो बहुत खूबसूरत फ़क़ीरनी है, उसमें मेरा भी दिल लग गया है। हाल खुफ़ियाँ रखने का वादा करती हूँ। अगर बेजा न हो, तो बतलाइए।

चंद्रगुप्त—वही भारतीय सम्राट् की राजपुत्री हैं, जिनकी प्रेम-प्रार्थना मैंने मूर्खता-वश अस्वीकृत कर दी।

हेलेन—हैं तो वे आला दर्जे की हसीन और बहुत ही बावज़ा शाह-ज़ादी। क्या अब भी मंज़ूर न कीजिएगा?

चंद्रगुप्त—उन्होंने मेरी ही मूर्खता के कारण योग ले लिया है। अब तो वे धार्मिक विचार से दुनिया की माता हैं; किसी की पत्नी कैसे हो सकती हैं?

हेलेन—यह भी कोई बात है? जब फ़रीक़ैन एक दूसरे को दिलोजान से चाहते हैं, तब मज़हब क्या हाथ पकड़ने आएगा?

चंद्रगुप्त—है तो ऐसा ही, किंतु वे जब मानें, तब न। मैंने बड़ी चिरौरी-बिनती की, पैरों पड़ा, किंतु मुझमें पूर्णतया अनुरक्त होकर तथा किसी और की ओर दृष्टिपात भी न करती हुई अब वे ईश्वर में ही अनुरक्त हैं।

हेलेन—तो क्या मुस्तहकम तरीक़े से आपने उन्हें खो दिया है?

चंद्रगुप्त—इसमें अणु-मात्र संदेह नहीं। न वे केवल मुझसे, वरन् संसार-भर से विरक्त हो चुकी हैं।

हेलेन—फिर आपकी इतनी तारीफ़ क्यों करती थीं ?

चंद्रगुप्त—अपने विचार से सत्य बात-मात्र कहती होंगी। वे मेरे सभी मित्रों का भी मेरे ही कारण पूर्ण हित-साधन करती हैं।

हेलेन—बड़े ही ऊँचे खयालात की शाहज़ादी हैं। अच्छा, आपके यहाँ हिंद में सुना, साँप बहुत होते हैं। क्या सब कहीं रेंगा करते हैं ? उनसे बचने के क्या तरीक़े हैं ?

चंद्रगुप्त—ऐसा नहीं है देवीजी ! जिन स्थानों में साँप रह सकते हैं, वे सबको ज्ञात रहते हैं। उनसे बचना कुछ कठिन नहीं।

हेलेन—तो भी बड़े डर की बात है। मुझे तो चमगादड़ तक के किसी कमरे में उड़ने लगने से डर लगता है।

चंद्रगुप्त—कन्याओं की हमारे यहाँ भी यही दशा होती है।

हेलेन—सुना, हाथी आपके मुल्क में बहुत होते हैं। क्या उनसे डर नहीं लगता ?

चंद्रगुप्त—डरने की कौन-सी बात है ? जंगली हाथियों से अपने को बचाना पड़ता है। पालतू साधारणतया किसी पर झपटते थोड़े ही हैं। वे तो सीधे अपने रास्ते पर चले जाते हैं।

हेलेन—क्या आप कभी किसी हाथी पर सवार हुए हैं ?

चंद्रगुप्त—सहस्रों बार। कोई भय की बात थोड़े ही है।

हेलेन—अगर नाराज़ हो जाय, और सूँड घुमाने लगे, तो कैसी गुज़रे ?

चंद्रगुप्त—ऐसा होता बहुत ही कम है। वे बेचारे सीधे राह पर चले जाते हैं। गड़बड़ बहुत कम करते हैं।

हेलेन—और शेर-चीते वग़ैरा से कैसे बचा जाता है ?

चंद्रगुप्त—वे तो जंगलों में रहते हैं। नगरों आदि में थोड़े ही आते हैं। मृगयार्थियों से उनका सामना पड़ता है। यहाँ ईरान में भी तो होते हैं।

हेलेन—हम लोग तो हिंद के बाबत हाथी, साँप, चीते, शेर वग़ैरा के हालात सुनकर बहुत कुछ डरा करती हैं।

चंद्रगुप्त—डरने की कोई बात नहीं है, देवीजी ! वहाँ भी तो करोड़ों

कन्याएँ रहती हैं। यदि ऐसा ही डर होता, तो उनकी जीवन-यात्रा कैसे चलती ?

हेलेन—है तो यही बात। अच्छा, किसी जंगल की सैर को चलिएगा। कोई खौफ़ तो नहीं है ?

चंद्रगुप्त—भय किस बात का ? जब तक मेरे पास धनुष-बाण तथा खड्ग है, तब तक कोई हिंसक जंतु क्या कर सकता है ?

हेलेन—तब चलिए; कितनी देर में वापस आ सकेंगे ?

चंद्रगुप्त—यही चार-छ घड़ी लगेगी। यहाँ से निकट ही तो है।

हेलेन—अगर कोई शेर निकल आवे, तो ?

चंद्रगुप्त—शेर आपका क्या बिगाड़ सकता है ? विना ललकारे वह युद्धोन्मुख होता ही नहीं। मनुष्य को जंगल में देखकर स्वयं हटकर भाग जाता है। यदि मैदान में मिल जाय, तो अपने को घिरा हुआ मानने लगता है। ऐसी दशा में झपट भी पड़ता है। यदि कोई डरता हो या मारने को कोई अस्त्र-शस्त्र पास न हों, तो दोनो हाथ उठा-उठाकर ललकारता हुआ ऐसी चेष्टा करे, मानो आगे बढ़ रहा है, किंतु हटता युक्ति-पूर्वक थोड़ा-थोड़ा पीछे ही जाय। जब शेर देखता है कि वह दूर पर है, तब चुपके से भाग जाता है।

हेलेन—क्या सब शेरों के आदात एक ही-से होते हैं ?

चंद्रगुप्त—उनके स्वभाव उन्हीं के अनुभवों पर आश्रित हैं। जो जंतु किसी मनुष्य के हाथ से अपने किसी साथी को मरता या हारता हुआ देख चुकते हैं, वे विशेष भयभीत रहते हैं, तथा जो किसी मनुष्य का हारना या मारा जाना देख चुकते हैं, वे निर्भय हो जाते हैं। यदि कोई हिंस्र जंतु देख पड़े, तो आपको मेरे पीछे छिप जाना चाहिए। मुझसे लिपटना या हाथ पकड़ना अनुचित होगा, क्योंकि ऐसी दशा में मैं कुछ कर न सकूँगा, और जंतु भी हम लोगों को सभय समझकर आक्रमण कर देगा। बंदर-घड़की की बात प्रायः जंतुओं के विषय में ठीक उतर जाती है।

हेलेन—तब चलिए, जंगल की ही सैर हो आए। अभी सुबह है, अगर

जी लगा, तो तीसरे पहर या शाम तक वहीं रह सकेंगे। अम्मीजान की इजाज़त मँगाए लेती हूँ।

चंद्रगुप्त—जैसी इच्छा। चलिए, आज शिक्षण-कार्य में अनध्याय भी था।

इस प्रकार निश्चय करके तथा कुछ अनुयायियों को भोज्य पदार्थों-सहित साथ लेकर दोनो मित्र अटव्यटन को अश्वारोही हो-होकर चले। कहीं तो ऐसा सघन वन मिलता था, जहाँ सौर किरणों का भी समुचित प्रवेश न होता था, तथा कहीं छोटे-छोटे पर्वत या ऊँचे घास-पूर्ण मैदान पड़ जाते थे। इधर-उधर एकाध वन्य जंतु भी दिखलाई पड़ते थे, जो इन लोगों को देखते ही दूर से भाग खड़े होते थे। मार्ग में चार-छ भक्ष्य पक्षी-मात्र मृगया से मिले, जिनको पाकर इनके अनुगामी सूद उत्कृष्ट स्वाद के कारण बहुत प्रसन्न हुए। अनंतर दो-तीन घड़ियों तक घूम-फिरकर इन्होंने एक कुछ ऊँचे पर्वत से अच्छा जल-प्रपात देखा। वायु के झकोरों से उस प्रपात से जल-कण उड़-उड़कर उस स्थान के दोनो ओर से मिले हुए पहाड़ों पर पड़ा करते थे, जिससे उन दोनो ओर हरियाली का अच्छा झुरमुट था। ऊपर से प्रायः पंद्रह हाथ चौड़ी जल-धार गिरती थी। उसके गिरने का स्थान पहाड़ी होने से कटता न था, केवल मिट्टी हट गई थी, जिससे वहाँ पच्चीस-तीस हाथ लंबा-चौड़ा तथा अधिक-से-अधिक तीन हाथ तक गहराई का एक सुंदर तालाब बना हुआ था। धूप में घूमने-फिरने से इन दोनो के पसीना आ गया था, सो ऐसे सुंदर, ठंडे स्थान में अपने को पाकर ये दोनो बहुत प्रसन्न हुए। उसी तालाब से पानी नीचे गिरता था, जिससे वंक्षु-नदी वहाँ से बहती थी। उसके दोनो कूलों पर हरे वृक्षों की डालियाँ दूर तक झुकी हुई थीं। उसका जल परम स्वच्छ था। कुछ देर सुस्ताकर इन दोनो ने नहाने के ऊनी कपड़े पहनकर प्रायः तीन घड़ी तक उस सुंदर सरोवर में स्नान किया। अनंतर वस्त्राभूषण धारण करके, दोनो वहाँ से कुछ दूर चलकर एक पाषाण-निर्मित देव-मंदिर के पास पहुँचे, जिसके निकट इनके नौकरों ने भोजन का प्रबंध किया था।

चंद्रगुप्त ने उस नदी के किनारों को ध्यान-पूर्वक देखकर निश्चय किया कि मंदिर के दूसरी ओर नदी-पार एक ऐसा घाट-सा था, जहाँ वन्य, हिंस्र जंतु संध्या को जल-पानार्थ आते होंगे। अतएव आपने अनुयायियों को छिपाकर ऐसे स्थान पर बिठलाया, जहाँ पानी पीने के लिये आनेवाले वन्य जंतु उन्हें देख न सकें। मंदिर के चबूतरे पर अपने दोनो के लिये भी, उसकी ओट में, ऐसा ही स्थान चुना। कुछ देर वहीं सुस्ताकर भोजन का समय आ जाने से चतुर सूदों के पकाए और परोसे सुस्वाद भक्ष्य, चोष्य और पेय पदार्थों का इन्होंने आस्वादन किया। ये सब वस्तुएँ इतने परिश्रम के पीछे इन्हें बहुत ही अच्छी लगीं। तब कुछ देर आराम करके इन्होंने उस सुंदर तथा सुविशाल मंदिर को ध्यान-पूर्वक देखने में चित्त लगाया। मंदिर वहाँ किसी समय भारतीय आर्यों ने बनवाया था। लक्ष्मी का मंदिर था। गर्भ-गृह में दो हाथियों की मूर्तें बीच के शून्य स्थल में सूँड़ों से पानी डालती हुई दिखलाई गई थीं। प्रयोजन यह माना गया था कि उस स्थान पर स्वयं लक्ष्मीदेवी विराजमान थीं। मानुष रूपों में उस काल दैवत मूर्तियाँ न बनाई जाती थीं, क्योंकि इस रूप में उनका अपमान समझा जाता था। इसी प्रकार चौखट के ऊपरवाले पाषाण में भी लक्ष्मीदेवी का सांकेतिक आभास दिखलाया गया था। मंदिर के भीतर खंभे, चौखट, छत, अंतराल, प्रदक्षिणा आदि में, सभी उचित स्थानों पर, अच्छी-अच्छी यक्ष-यक्षिणियों की तथा अन्यान्य पाषाण-मूर्तें, बहुत बड़े सौंदर्य के साथ, बनाई गई थीं। मंदिर के दोनों पार्श्वों तथा पीछे के भाग में बहुत सुंदरता-पूर्वक भारी-भारी दर बनाए गए थे, जिनमें प्रत्येक में चार-छ मनुष्य बैठकर ठंडी हवा का स्वाद ले सकते थे। उनमें भी उचित स्थानों पर अच्छी-अच्छी कारीगरी पाषाण में दिखलाई गई थी। अंतराल के सामने महामंडप का परम सुंदर तथा रमणीय स्थान था, जहाँ बैठकर यात्री लोग मंदिर का सौंदर्यावलोकन कर सकते थे। जहाँ-जहाँ स्थान मिल सका, वहीं निर्माताओं ने पाषाण में कारीगरी करने में आलस्य न किया था, चाहे जितना समय और धन क्यों न लगा। मंदिर के बाहरी भागों में भी पार्श्वों, पृष्ठि-भाग तथा सभी कोणों में खुदाई के

परमोत्कृष्ट काम किए गए थे। कोनों में एक दूसरे के ऊपर मूर्तों के तीन-तीन खंड थे। पार्श्वों में पाषाण उठाने की विधि, हाथी, घोड़े, सवारी आदि चित्रित थीं, जिनमें हाथी, घोड़ों आदि का भी प्राचुर्य था। कई प्रकार के बाल गूथने की विधियाँ चित्रित थीं, तथा सुंदरी स्त्रियों को विविध कोणों, पार्श्वों आदि से खड़ी या बैठी दिखला-दिखलाकर पाषाण में उनका सौंदर्य चित्रित किया गया था। कोई स्त्री स्नान कर रही थी, कोई बच्चे को खिलाती थी, कोई भिक्षुओं को धान्य देती थी, कोई सखियों-समेत चंद्रोदय का अवलोकन करती थी अथवा चंद्र-ज्योत्स्ना से धवलित किसी छत पर नृत्य-गान-वाद्यादि का स्वाद ले रही थी। पुष्प-याचिका तथा फूल तोड़ती हुई या स्नान करती हुई भी सुंदरियाँ चित्रित थीं। था यह सब पाषाण-मूर्तियों में ही खेल।

प्राचीन समय की सारी सभ्यता का दिग्दर्शन उस मंदिर में उत्कीर्ण मूर्तों से ही कराया गया था, मानो सारा भूतकाल मूर्तिमान् होकर सम्मुख उपस्थित हो गया हो। पति-पत्नी के सुखमय संभाषण, पूजिकाओं के भक्ति-पूर्ण भाव, यज्ञ-कुंडों में आहुति, हवन आदि सब दिखलाए गए थे। जहाँ किसी रामा-मूर्ति के निकट मगर बना था, वहाँ गंगाजी का बोध कराया गया था। इसी प्रकार उसके निकट कच्छप के होने से यमुनाजी थीं। सात घोड़ों-सहित सूर्य भगवान् का रथ दिख रहा था, जिनके सामने चार मानुष मूर्तियों में चारो वेद वर्तमान थे।

आर्य-सभ्यता का यह मूर्तिमान् दृश्य देखकर तथा मौर्य राजकुमार द्वारा उसके अर्थ समझाए जाने से हेलेनदेवी बहुत ही प्रसन्न हुई। उस मंदिर के प्रत्येक भाग को इन दोनो ने बहुत ही ध्यान-पूर्वक देखा। यह कारीगरी यवन-राजकुमारी को बहुत ही भाई, तथा इससे उनके चित्त में भारतीय सभ्यता का मान भी बढ़ा। अनंतर ये दोनो उस नदी के शीतल अथच स्वच्छ, छाया-पूर्ण किनारे को देखते हुए कुछ दूर चले गए, और फिर मृगया का समय समझकर मंदिर पर पलट आए। जल के कल-कल शब्द तथा शुद्ध जल-स्पर्श द्वारा जल-कण-युक्त शीतल वायु के लगने से, वृक्षों की

सघन छाया में फिरते हुए, दोनो मित्र अत्यंत प्रसन्न हुए। अनंतर मृगया की ताक में, मंदिर की ओट में, दोनो बैठे। शनैः-शनैः जंतुओं के जल-पानार्थ आने का समय आया। पहले तो बहुतेरे छोटे-छोटे जंतु आ-आकर और पानी पी-पीकर चले गए। उन पर प्रहार न हुआ। अनंतर भारी सींगोंवाला एक बारासिंगा निकला, जो एक ही बाण से गिरकर मृत हो गया, तथा इनके अनुयायियों ने उसे उठा लिया। थोड़ी देर में एक चीता आया। वह भी मौर्य राजकुमार के एक ही बाण से समाप्त हो गया। तत्पश्चात् एक बड़ा सिंह निकला, जिसके बाण लगा तो, किंतु पिछले पैर में। वह भागकर एक झाड़ी में छिप गया, तथा उसे खोजते हुए आप भी वहीं पहुँचे। हेलेनदेवी इनसे दस-पंद्रह डग पीछे थीं। इन्हें देखते ही क्रोधांध सिंह झपट पड़ा। वह निकट से ही ऐसी तीव्रता से झपटा कि इन्हें बाण-प्रहार का अवसर न मिला। ऐसी दुरवस्था देखकर आपने अपने भाले से उसका हृदय विदीर्ण कर दिया, जिससे वह भी मरकर गिर पड़ा, और इनके अनुयायियों ने उसका शव उठा लिया। हेलेनदेवी ने प्रसन्न होकर इनके दोनों हाथ चूम लिए। अब उनकी सम्मति से मृगया समाप्त की गई, और इस दोनो ने अश्वारोही हो-होकर अनुचर-वर्ग-सहित डेरों का रास्ता लिया। संध्या-काल होने के कुछ ही पूर्व ये लोग अपने-अपने स्थानों पर पहुँच गए। इस वन-भ्रमण तथा मृगयादि से हेलेनदेवी बहुत ही प्रसन्न हुईं, और इसी प्रकार दो-चार बार इनके साथ उस रमणीय स्थान के देखने, स्नान तथा मृगया का आनंद उठाया।

इन दोनो के पारस्परिक प्रेम को इस प्रकार बढ़ते देखकर हेलेनदेवी के त्यक्त प्रेमी फ़िलिप को बड़ा द्वेष उत्पन्न हुआ, और एक बार चंद्रगुप्त को अकेले में पाकर उन्होंने इस प्रकार कथनोपकथन किया—

फ़िलिप—देखिए, शाहज़ादे साहब! आप हमारी फ़ौज में लड़ाई का काम सीखने आए हैं, या और भी कोई मतलब बनाने?

चंद्रगुप्त—आया तो मैं युद्ध-विद्या ही सीखने को हूँ, सेनापति महोदय! जहाँ तक मुझे स्मरण है, मैंने कभी आपका अपमान अथवा कोई अपकार

नहीं किया, यद्यपि स्वयं आप मुझसे एक बार अनुचित संभाषण कर चुके हैं, तथा आज भी उसका कुछ पूर्व रूप सा दिखलाई देता है।

फ़िलिप—जब आपके कामों से मेरे सीने पर साँप लोट रहा है, तब भी क्या आप समझते हैं कि मुझे नाराज़गी न होगी।

चंद्रगुप्त—ऐसी दशा में तो आपका सक्रोध होना परम स्वाभाविक होगा, किंतु मैं अपना कोई ऐसा कार्य नहीं जानता, जिससे आपको ऐसा बुरा लगे।

फ़िलिप—जानते आप सब हैं, मगर जान-बूझकर भी भोले बनते हैं। अच्छा, अब साफ़-साफ़ समझ लीजिए कि प्यारी हेलेन के चाहनेवाले संसार में दो नहीं रह सकते। या तो दुनिया में अब आप रहेंगे या मैं ही। हम दो-के-दोनो अब रह नहीं सकते। या तो आप सीधे यहाँ से अपने मुल्क कल ही वापस तशरीफ़ ले जाइए, या मुझसे ज़ोर-आज़माई को तैयार हूजिए।

चंद्रगुप्त—मैंने तो हेलेनदेवी से कभी प्रेम-प्रार्थना न की, वरन् अद्यावधि मेरा-उनका साधारण स्नेह है। यदि आप उन्हें अनुकूल कर सकें, तो क्या मैं बीच में पड़ने जाऊँगा? जहाँ तक मैं समझता हूँ उन्होंने अब तक किसी पर भी साधारण मित्रता के अतिरिक्त प्रेम-पूर्ण दृष्टि नहीं डाली है। ऐसी दशा में आपको मुझसे अप्रसन्न होने का कोई कारण नहीं। अभी तो उनकी अवस्था भी १७वें साल में है, और यहाँ की रीति के अनुसार उनका साल-दो साल किसी से विवाह हो भी नहीं सकता।

फ़िलिप—यह मैं सब जानता हूँ, किंतु उसके पहले भी मुहब्बत पुख्ता हो सकती है, जिसकी पूरी कोशिश आप कर रहे हैं।

चंद्रगुप्त—क्या इस संबंध में उन्हें किसी पर अनुरक्त होने का अधिकार नहीं है?

फ़िलिप—अब जाकर आप रास्ते पर आए। उनमें अभी इतना तजुर्बा नहीं कि सही व ग़लत का पूरा इंतियाज़ कर सकें। जब तक इतना समझने की उनकी उम्र हो, उसके पहले ही आप काम बनाए लेते हैं। क्या कह सकते हैं कि आप इस कोशिश में मुब्तिला नहीं हैं?

चंद्रगुप्त—मैं कुछ भी करता या नहीं करता हूँ, इसकी परीक्षा लेनेवाले आप कौन हैं ? क्या आप समझते हैं कि धमकाने से मैं डर जाऊँगा ? अब जो चाहिए, कर लीजिए, किंतु इतना फिर भी कहूँगा कि आपका ऐसा विचार नितांत असंगत है ।

फ़िलिप—अच्छा, मैं फिर से ग़ौर करके आपसे बात करूँगा ।

इस प्रकार वार्तालाप के पीछे ये दोनो पृथक् हुए, तथा चंद्रगुप्त का व्यवहार हेलेनदेवी से पहले ही का-सा चलता रहा । यत्र-तत्र घूमते-फिरते एक दिन हेलेन का साक्षात्कार योगिनी सुनंदा से फिर होकर एकांत में वार्तालाप होने लगा ।

हेलेन—योगिनी माता ! आपको एक बार फिर देखकर मैं बहुत ही शाद हुई हूँ । क्या आप से दो-चार दिली बातें कर सकती हूँ ?

सुनंदा—क्यों नहीं, शहज़ादी साहबा ! जो चाहिए, प्रसन्नता से पूछिए ।

हेलेन—मैंने सुना है कि पहले चाहे जैसा रहा हो, लेकिन अब आप और मौर्य शहज़ादे साहब एक दूसरे को अच्छी तरह, जी-जान से, चाहते हैं । ऐसी हालत में सिर्फ़ एक पुराने इनकार से आप इतना क्यों नाराज़ हो गईं कि अब ताब-ज़िंदगी उनसे शादी करना नहीं चाहतीं ?

सुनंदा—देवीजी ! यह तो परम गुप्त रहस्य है; मुझे आश्चर्य है कि उन्होंने आपसे कह कैसे दिया ?

हेलेन—उन्होंने क्या कहा ? खुद आपने इसका आग़ाज मुझसे किया था कि उन्होंने पाटलिपुत्र की शहज़ादी से शादी करने से इनकार कर दिया । उन्होंने तो सिर्फ़ इतना ही कहा कि वह शहज़ादी आप ही हैं, और अब उन्हें आपसे इनकार भी नहीं, बल्कि जी-जान से चाहते हैं, और इधर आप भी उतना ही चाहती हैं । मुझे तअज्जुब यह है कि फिर भी यह मामला बारे क्यों नहीं लगता ?

सुनंदा—शहज़ादी साहबा ! आप हम लोगों की सभ्यता का हाल पूरा-पूरा न जानने से ही ऐसा आश्चर्य करती हैं । जब एक बार योगिनी हो चुकी, तब यह रूप छोड़ कैसे सकती हूँ ? अब तो मेरा विवाह भगवान्

से हो चुका है। मैं जब संसार की माता हो चुकी, तब अपने ही एक बेटे से विवाह कैसे करूँ?

हेलेन—यह तो कहने-भर की बात है योगिनीजी! मेरा कहना मानकर उनकी आरज़ू क़ुबूल कर लीजिए। इसमें आपका भला है, और उनका भी।

सुनंदा—उन्होंने एक बार मेरी प्रार्थना न्यूनाधिक अस्वीकृत कर दी। यद्यपि मान पीछे से जाते, किंतु पितृचरण द्वारा अनुचित शीघ्रता होने से वह अवसर मुझे न मिला। तब मैंने निश्चय-पूर्वक गृहस्थाश्रम छोड़ दिया। अब उसमें फिर से नहीं जा सकती। अप्रसन्न उनसे अणु-मात्र नहीं हूँ, वरन् उनके हित-साधन में यदि प्राण-विसर्जन हो जाय, तो भी अस्वीकार नहीं। केवल विवाह असंभव है।

हेलेन—ऐसा मज़हब लेकर आप क्या करेंगी, जिसमें ताब-ज़िंदगी परेशान रहें?

सुनंदा—यह जीवन दुःखमय नहीं है। केवल एक बात की न्यूनता है, किंतु उसके बदले स्वच्छंदता, लोकानुभव तथा पुण्य की विशेषता है।

हेलेन—तो क्या समझ लूँ कि आपका यह ग़लत इरादा बदल नहीं सकता?

सुनंदा—स्वप्न में भी नहीं।

हेलेन—इन बातों से मैंने जाना कि हिंद के लोगों में दिली मज़बूती काफ़ी से ज़्यादा मौजूद है।

सुनंदा—एक उदाहरण-मात्र से कुछ पुष्ट परिणाम नहीं निकल सकता।

इस प्रकार वार्तालाप के पीछे ये दोनो प्रेम-पूर्वक पृथक् हुईं। अनंतर समय पर अलिकसुंदर ने विद्यालय में सारे प्रवीण विद्यार्थियों के काम देखने को समय नियत किया। जब तक वह दिन आए, उससे कुछ पहले ही सेनापति फ़िलिप ने चंद्रगुप्त से यों बातचीत एकांत में की—

फ़िलिप—मौर्य शहज़ादे साहब! मैंने आपके बाबत फिर से ग़ौर

किया, मगर मुझे इतमीनान नहीं होता। अब या तो आप यहाँ से चलते बनिए, या हमारी आपसे ज़ोरआज़माई लाज़िमी है।

चंद्रगुप्त—अब तो हम विद्यार्थियों की परीक्षा भी सम्राट् के सम्मुख होनेवाली है; उसी समय आप भी युद्ध कर लीजिएगा। यद्यपि हूँ अवस्था देखते हुए मैं युद्धार्थ आपके अयोग्य, किंतु जब आप इस पर कटिबद्ध हैं, तब एक भारतीय क्षत्रिय पीछे भी नहीं हट सकता।

फ़िलिप—अगर बच्चे होने की आड़ में लड़ाई से बचना चाहते हो, तो मेरा मुक़ाबिला छोड़ दो। मैं सिर्फ़ लड़ने की बात तो कहता नहीं, दो बातें बतला रहा हूँ।

चंद्रगुप्त—द्वितीय बात जब मानापहारिणी है, तब सिवा युद्ध के मेरे लिये उपाय ही क्या रह जाता है ? बालक समझकर असावधानी न कर जाइएगा, क्योंकि मैं आपके-से सेनापतियों का सामना करने में पीछे हटने-वाला नहीं हूँ।

फ़िलिप—तब फिर परीक्षा के अवसर पर किसी युक्ति से युद्धार्थ सम्राट् की आज्ञा ले ली जायगी।

चंद्रगुप्त—बहुत ठीक है।

इस प्रकार बात करके ये दोनो अपने-अपने स्थान को गए, और यथासमय परीक्षा का भी अवसर उपस्थित हो गया। सम्राट्-सहित बड़े-बड़े सेनानायकों तथा इतरों के बैठने के लिये उचित प्रबंध हुए, और प्रवीण शिक्षार्थी अपना-अपना काम दिखलाने लगे। चंद्रगुप्त का काम सबसे श्रेष्ठ हुआ। अनंतर प्रवीणतम कुछ लोगों को थोड़ी-थोड़ी सेना दी गई, और कृत्रिम युद्ध कराए गए, जिनमें भी चंद्रगुप्त का काम सर्वश्रेष्ठ निकला। सबों ने मुक्त कंठ से इनकी प्रशंसा की। अनंतर सेनापति फ़िलिप ने सम्राट् से चंद्रगुप्त के साथ कृत्रिम द्वंद्व-युद्ध के लिये आज्ञा माँगी। सम्राट् ने दोनो की अवस्थाओं तथा अनुभवों में भारी अंतर समझकर इस युद्ध को अनु-चित कहा, किंतु चंद्रगुप्त ने प्रार्थना की कि उन्होंने इस कृत्रिम युद्ध को स्वीकार कर रक्खा था। इस पर दोनो की इच्छाओं पर विचार करके

उन्होंने स्वीकार कर लिया, किंतु युद्ध की कृत्रिमता पर हठ कर दिया। दोनो ने पहले लक्ष्य-भेदन को उठाया, और तीन-तीन बाण चलाए। फ़िलिप का लक्ष्य दो बार सफल रहा, और चंद्रगुप्त का तीनो बार। अनंतर कई और अस्त्र-शस्त्रों का व्यवहार हुआ, जिन सबमें चंद्रगुप्त ही श्रेष्ठतर निकले। तब फ़िलिप की इच्छा से इनमें खड्ग-युद्ध होने का विचार हुआ। इस पर कुमारी हेलेन ने आपत्ति की। फिर भी सबों को संतुष्ट करके चंद्रगुप्त ने खड्ग-युद्ध भी आरंभ किया, जिसमें कुछ समय के पीछे एक ऐसा हाथ लगाया कि फ़िलिप का खड्ग छूट ने छटकर दूर्वा पर गिर पड़ा। इस प्रकार पूर्ण पराजय पाकर फ़िलिप अभिमान छोड़कर युद्ध से निवृत्त हो गया, तथा सम्राट् अलिकसुंदर चंद्रगुप्त से पूर्णतया प्रसन्न हुआ, और दो अच्छे याबू (घोड़े) पारितोपिक में दिए।

इस समय (मई-मास ३२६ बी० सी० में) सम्राट् भारतीय आक्रमण को सन्नद्ध हो गया था। चंद्रगुप्त की वीरता से परम प्रसन्न होकर उसने इन्हें अपने दरबार में बुलाया, तथा महामंत्री के साथ बैठकर इनसे वार्तालाप किया।

अलिकसुंदर—ऐ बहादुर नौजवान ! मैं आपकी फ़ौजी लियाक़त से अज़हद ख़ुश हूँ। अब मेरा हिंदी हमला शुरू होने ही वाला है। अगर आप चाहें, और पसंद फ़रमाएँ, तो सिपहसालार सल्यूकस की मातहती में आपको भी एक आला अफ़सर बना दिया जाय।

चंद्रगुप्त—देव की कृपा की तो मैं शतमुख से सराहना करूँगा, किंतु इतना समझना चाहिए कि मैं भी वहीं का एक राजकुमार हूँ, और अपने देश के प्रतिकूल एक विदेशी सम्राट् की सहायता में, देश-द्रोही होकर, तत्पर नहीं हो सकता। राज्य तो मेरे पिता का लघु है, किंतु इन दिनों कुछ राजनीतिज्ञों की सहायता से उन्होंने भी समुचित बल संपादन कर लिया है। यदि देव समुचित नियमों पर संधि करना अनुचित न समझें, तो इस विषय पर संभाषण संभव है।

अलिकसुंदर—मैं तो आपको मामूली तालिबे-इल्म समझता था,

मगर आप हिंद के बाबत सुलह का ख्वाब देखते हैं। मैं कैसे मान सकता हूँ कि आपका रुतबा वहाँ इतना बुलंद है कि मिश्र और ईरान के फ़ातेह शहंशाह से, उसी के खेमे में बैठकर, सुलह की गुफ़्तगू करने की हिम्मत कर सकें ?

चंद्रगुप्त—मेरी प्रार्थना तो कुछ दर्पोक्ति-गर्भित समझी जा सकती है, किंतु यदि अनुचित मानी जाय, तो मुझे बिदाई दे दी जाय। मैं अपने देश चला जाऊँगा।

अलिकसुंदर—अच्छा, यह तो मालूम हो कि आपके शरायत क्या हैं ?

चंद्रगुप्त—सप्तसिंधु के नरेशों से मेरा कोई बिगाड़ नहीं है, किंतु पाटलिपुत्र के सम्राट् का पद मैं उलट डालूँगा। यदि देव इस प्रयत्न में मेरा साथ दें, तो ईरान-पर्यंत यवन-राज्य रहे, तथा भारत में मैं यथासाध्य एक राष्ट्र स्थापित करूँगा। इन दोनो शक्तियों में पूर्ण मित्र-भाव रहे, जिससे दोनो के पदों की पुष्टि संभव होगी।

अलिकसुंदर—आपके ओहदे को मैं इतना बड़ा नहीं समझता। मैं तो खुद बज़ोर शमशीर हिंद की फ़तेह करने जा रहा हूँ, और बहादुरी से खुश होकर आपको नौकर रखना चाहता हूँ। इससे ज्यादा न तो मैं आपकी ताक़त समझता हूँ, न हिंद की फ़तेह से दस्तकशी कर सकता हूँ।

चंद्रगुप्त—तब यदि उचित हो, तो देव मुझे जाने की आज्ञा दे दें।

महामंत्री—शहज़ादे साहब ! ज़रा खयाल फ़रमाइए कि बात किससे हो रही है ? कहाँ इतना बड़ा शहंशाह और कहाँ आप ?

अलिकसुंदर—अच्छा, वहाँ जाकर आप क्या करेंगे ?

चंद्रगुप्त—अवसर देखकर जो उचित समझ पड़ेगा, वही करूँगा।

महामंत्री—क्या शहंशाह का मुक़ाबिला भी मुमकिन है ?

चंद्रगुप्त—चंद्रगुप्त देश-द्रोही नहीं है। जब जैसा उचित होगा, करना ही पड़ेगा।

अलिकसुंदर—हमारे यहाँ से इल्म सीखकर क्या हमारा ही सामना करने की जुरात होगी ?

चंद्रगुप्त—यथासाध्य नहीं, किंतु वचन-बद्ध नहीं हो सकता। देश-प्रेम कैसे छूट सकता है? यथोचित कार्यवाही करनी ही पड़ेगी। मेरे पूज्य पिता सप्तसिंधु के नरेश तो हैं नहीं, न पाटलिपुत्र के। संभवतः सम्राट् झेलम या रावी के पार न जायँ। ऐसी दशा में मुझे युद्धोन्मुख होने की आवश्यकता कादाचित् न पड़े।

अलिकसुंदर—यह कौन कह सकता है कि मेरा फ़ातेह तेग़ पाटलिपुत्र तक में न चमकेगा?

चंद्रगुप्त—मुझसे उस राज्य से भी क्या संबंध है? मैं स्वयं उसका शत्रु हूँ। फिर भी यथावसर कार्य करने को स्वतंत्र रहूँगा ही।

महामंत्री—(अलिकसुंदर से) हुज़ूरे अक़दस! यह नौजवान थोड़ा-सा पागल भी समझ पड़ता है।

अलिकसुंदर—हिम्मत इसकी बढ़ी हुई ज़रूर है, जो बेहूदगी की हद तक भी पहुँच जाती है, मगर हुब्बुलवतनी व सदाक़त की हद नहीं है। लियाक़त भी आला दर्जे की है। हो इस नौजवान से सब कुछ सकता है।

चंद्रगुप्त—विक्षिप्त आदि समझकर कोई कृपा न की जाय, देव! मैं देश-प्रेम छोड़ नहीं सकता, किंतु आपका शत्रु अब तक नहीं हूँ। यदि ईरान-पर्यंत संतुष्ट रहिए, तो सदा के लिये पूर्ण मित्र हो सकता हूँ। यह मौर्य किसी का वेतन-भोगी सेवक नहीं हो सकता।

अलिकसुंदर—जब हिंद के दुश्मनों के आप दुश्मन होंगे ही, तब मेरे भी दुश्मन हो चुके। इसका क्या जवाब है?

चंद्रगुप्त—किसी दशा में संभवतः शत्रु हो सकता हूँ, किंतु ऐसा निश्चित नहीं। अभी हूँ भी नहीं।

अलिकसुंदर—फ़ौजी मामलों में इंसाफ़ी अदालत का सवाल नहीं है। जब आप हमारे दुश्मन हो सकते हैं, और धोखा देकर हमारा फ़ौजी इल्म भी हासिल कर सकते हैं, तब या तो मददगार बनिए या क़ैदी। कहिए, क्या पसंद है?

चंद्रगुप्त—स्वदेश के प्रतिकूल सहायक नहीं बन सकता। मुझे बंदी

बनाने में यदि देव न्याय समझते हों, तो बना लीजिए। अभी तो मैं एक विद्यार्थी-मात्र हूँ। यदि ऐसों से भी यवन-सम्राट् को भय हो, तो उचित हो, आज्ञा दे दी जाय।

महामंत्री—खौफ़ की क्या बात है? मगर नौजवान! दुश्मनों को मुक़ाबिले के लिये खुदमुख़्तार कौन कर सकता है?

अलिकसुंदर—समझ लो नौजवान! अब भी मौक़ा है। होशियार हो जाओ; क्यों नाहक़ क़ैदखाने जाते हो?

चंद्रगुप्त—जैसी देव की इच्छा; मैं मिथ्या भाषण कैसे करूँ?

अलिकसुंदर—(महामंत्री से) तब इस नौजवान को ज़िंदा (जेल) ले जाओ। मैं मजबूर हूँ।

इस वार्तालाप के पीछे महामंत्री के साथ चंद्रगुप्त बाहर जाकर कारागार में बंद कर दिए गए। ऐसा दुःखद समाचार सुनकर योगिनी सुनंदा गुप्तरूपेण हेलेनदेवी की सेवा में उपस्थित हुई, और उनसे चंद्रगुप्त के विषय में परामर्श करती रहीं। हेलेन भी पहले ही से उन्हें छुड़ाने की युक्ति में थी, और अब दोनो गुप्त मंत्र करके सेल्यूकस के प्रभाव के कारण तथा धन-व्यय द्वारा भी छिपे-छिपे चंद्रगुप्त को कारागार से स्वतंत्र करने में समर्थ हुईं। तब हेलेनदेवी को सहस्रों धन्यवाद देकर चंद्रगुप्त दोनो योगिनियों तथा अपने अनुयायियों के साथ भारत पहुँचे। पिता विशालगुप्त दो वर्ष पीछे पुत्र को देखकर अत्यंत प्रसन्न हुए। अनंतर आर्य चाणक्य के नियोजित दूतों द्वारा उनकी अवाई का हाल पौरव नरेश पर भी विदित हुआ, और उन्होंने नियम-पूर्वक कन्या दुर्धरा के विवाह की बात चलाई, जो मौर्य नरेश द्वारा प्रेम-पूर्वक स्वीकृत हुई। यथासमय दोनो पक्षों की पूर्ण प्रसन्नता के साथ शुभ अवसर पर चंद्रगुप्त का राजकुमारी दुर्धरा से विधिवत् विवाह हो गया। अब पौरव नरेश की प्रार्थना और गुरुदेव तथा पूज्य पिता की स्वीकृति से आप कुछ दिनों के लिये श्वशुर के ही घर में सपत्नीक रहने लगे।

बनाने में यदि देव न्याय समझते हों, तो बना लीजिए। अभी तो मैं एक विद्यार्थी-मात्र हूँ। यदि ऐसों से भी यवन-सम्राट् को भय हो, तो उचित हो, आज्ञा दे दी जाय।

महामंत्री—खौफ़ की क्या बात हैं? मगर नौजवान! दुश्मनों को मुक्त किने के लिये खुदमुख्तार कौन कर सकता है?

अलिकसुंदर—समझ लो नौजवान! अब भी मौक़ा है। होशियार हो जाओ; क्यों नाहक़ क़ैदखाने जाते हो?

चंद्रगुप्त—जैसी देव की इच्छा; मैं मिथ्या भाषण कैसे करूँ?

अलिकसुंदर—(महामंत्री से) तब इस नौजवान को ज़िंदा (जेल) ले जाओ। मैं मजबूर हूँ।

इस वार्तालाप के पीछे महामंत्री के साथ चंद्रगुप्त बाहर जाकर कारागार में बंद कर दिए गए। ऐसा दुःखद समाचार सुनकर योगिनी सुनंदा गुप्तरूपेण हेलेनदेवी की सेवा में उपस्थित हुईं, और उनसे चंद्रगुप्त के विषय में परामर्श करती रहीं। हेलेन भी पहले ही से उन्हें छुड़ाने की युक्ति में थी, और अब दोनो गुप्त मंत्र करके सेल्यूकस के प्रभाव के कारण तथा धन-व्यय द्वारा भी छिपे-छिपे चंद्रगुप्त को कारागार से स्वतंत्र करने में समर्थ हुईं। तब हेलेनदेवी को सहस्रों धन्यवाद देकर चंद्रगुप्त दोनो योगिनियों तथा अपने अनुयायियों के साथ भारत पहुँचे। पिता विशालगुप्त दो वर्ष पीछे पुत्र को देखकर अत्यंत प्रसन्न हुए। अनंतर आर्य चाणक्य के नियोजित दूतों द्वारा उनकी अवाई का हाल पौरव नरेश पर भी विदित हुआ, और उन्होंने नियम-पूर्वक कन्या दुर्धरा के विवाह की बात चलाई, जो मौर्य नरेश द्वारा प्रेम-पूर्वक स्वीकृत हुई। यथासमय दोनो पक्षों की पूर्ण प्रसन्नता के साथ शुभ अवसर पर चंद्रगुप्त का राजकुमारी दुर्धरा से विधिवत् विवाह हो गया। अब पौरव नरेश की प्रार्थना और गुरुदेव तथा पूज्य पिता की स्वीकृति से आप कुछ दिनों के लिये श्वशुर के ही घर में सपत्नीक रहने लगे।

अष्टम परिच्छेद

सिकंदरी धावा तथा मौर्य-विजय

सिकंदर (अलिकसुंदर) ग्रीस-देश में मेसिडान का बादशाह था। उसने अपनी शक्ति बढ़ाकर, शाम, ईजिप्ट, फ़िलिस्तीन, लघु एशिया, अरब आदि जीतकर ईरान पर भी आक्रमण किया, जहाँ का सम्राट् दारा मारा गया, और यवनों का अधिकार उसके साम्राज्य पर हो गया। यदि चंद्रगुप्त की उचित सम्मति मानकर वह इतने भारी राज्य से संतुष्ट रहकर भारत को मित्र-शक्ति बना लेता, तो उसके जीवन और साम्राज्य, दोनो चिरकाल-पर्यंत स्थापित रहते, किंतु उन्नति की महती इच्छा ने उसे बावला बना दिया, और वह भारत पर भी चढ़ दौड़ा। उसने ३२८ ईसा पूर्व में कोहे दामन पर सिकंदरिया-शहर बसाया था। मई ३२६ ईसा पूर्व में उसने भारत पर अपना तीन वर्षवाला आक्रमण किया। सीमा-प्रांत के छोटे-छोटे नरेशों को जीतता हुआ वह हस्ती राजा के यहाँ पहुँचा, तथा वहाँ का प्रचंड दुर्ग घेर लिया। अलिकसुंदर के पास उस काल ५० से ६० सहस्र तक सेना थी। छोटा-सा हस्ती-नरेश इस वीरता से लड़ा कि उसका दुर्ग इस महती सेना को तीस दिवस रोके रहा। उसे अंत में जीतकर अलिकसुंदर दल-बल-समेत बाजोर और स्वात-घाटी में घुसा। वहाँ आश्वकायन लोग घोर युद्ध करके पराजित हुए, और तब असिक के राजा ने राजधानी मसागा में बैठकर परम प्रचंड युद्ध किया। अंत में वह मारा गया, तथा उसका बेटा यवनों का अधीनस्थ नरेश हुआ। मृत राजा की एक सुंदरी रानी में यवनेश ने एक पुत्र उत्पन्न किया, अथच भिबर और राजोली-प्रांत अपने अधिकार में रक्खे। इस मसागा-राज्य के सात सहस्र सैनिक यवन-पति के अधिकार में आए, जिन्हें उसने अपने

दल में सम्मिलित करना चाहा, किंतु उन्होंने एक विदेशी की सहायता में स्वदेशियों का अहित करना बहुत अनुचित माना। अब इन्होंने युक्ति-पूर्वक निकल जाने का डौल डाला, किंतु यवनों ने इन्हें घेर लिया। इस पर इन्होंने स्त्रियों-समेत घोर युद्ध किया, और अपने से अधिक संख्या में यवन मारकर वीर-गति प्राप्त की। उधर तक्षशिला के निंदित शासक ने पाँच सहस्र सैनिकों द्वारा यवनों की सहायता की। अब निकेटर उनकी ओर से सिंध-नदी से पश्चिमवाले देश का शासक नियत हुआ, और अटक से ८ कोस पर उस नदी को पुल द्वारा पार करके अलिकसुंदर ओहिंद (उद्भांडपुर) पहुँचा। यहाँ तक्षशिला का राजा अंभि उसे मिला। पौरव (पोरस) उस भू-भाग का स्वामी था, जो अब बहुत करके झेलम, गुजरात और शाहपुर ज़िलों में है। झेलम पार करने से उसे रोकने को पोरस ने, अपने बेटे दुर्धर्ष के आधिपत्य में, २,००० सैनिक भेजे। इस युद्ध में स्वयं दुर्धर्ष का वध हो गया, और यवन-दल झेलम-पार उतर आया।

यह देखकर पोरस ने अपनी सारी सेना सन्नद्ध करके उससे लोहा लेने की ठानी। इस दल को मौर्य चंद्रगुप्त ने शिक्षित किया था, और वह स्वयं युद्धार्थ नेता होने को प्रार्थी थे, किंतु पुत्र-विनाश से दुःखित पोरस ने उन्हें राजधानी की रक्षा के निमित्त छोड़ा। उनका विचार था कि यदि कहीं इनका भी अमंगल हो गया, तो वह स्वयं संतति-हीन हो जाने को थे, क्योंकि सिवा पुत्री दुर्धरा के अब उनके कोई संतान न रह गई थी। विवश होकर चंद्रगुप्त नगर-रक्षा को रह गए। पोरस की सेना में २०० हाथी, ३०० रथ, ४,००० घोड़े तथा ३०,००० पैदल थे। प्रत्येक रथ में दो धनुर्धर, दो ढलैत और दो सारथि रहते थे। पदातियों का चौड़ा खांड़ा दोनो हाथों से चलाया जाता था। भारतीय हयसादी यवन सवारों के सामने निर्बल पड़कर हारे, हाथियों ने कुछ बल दिखलाया, किंतु अंत में गुरुतर यवन-सेना के दबाव से भारतीय दल पराजित हो गया। स्वयं पोरस ७७ इंच ऊँचा योद्धा था। वह अंत-पर्यंत लड़ता रहा, किंतु नौ घावों के लगने से मूर्च्छितप्राय होकर शत्रुओं द्वारा पकड़ लिया गया। उसके शौर्य से प्रभावित होकर सिकंदर ने पुछवाया—

"आपके साथ मेरी ओर से कैसा व्यवहार किया जाय ?" पोरस ने उत्तर दिया—"जैसा एक राजा दूसरे के साथ करता है।" इस निर्भय उत्तर से परम प्रसन्न होकर अलिकसुंदर ने न केवल पोरस को स्वतंत्र करके उसका राज्य फेर दिया, वरन् मसागा से छीने हुए भिंबर तथा राजोली-प्रांत अपनी ओर से दे दिए। इससे इन दोनो में मेल हो गया। यह युद्ध जुलाई ३२५ बी० सी० में हुआ। अनंतर गंडरिस-नरेश पोरस का भतीजा विना लड़े यवनों से मिल गया, तथा शाकल में कठों से युद्ध हुआ, जिसमें वे पराजित हुए।

अब सिकंदरी सेना व्यास-नदी के पश्चिमी किनारे पर पहुँची, और अलिकसुंदर उसे भी पार करके नवनंद-दल से टक्कर लेने को उत्सुक हुआ, किंतु पोरस के कठिन युद्ध से हतोत्साह यवन-सेना ने भारी नवनंद-दल का सामना करने की हिम्मत न की। विवश होकर अलिकसुंदर ने ऊँचे-ऊँचे १२ पाषाण-स्तंभ बनवाकर वहाँ गड़वाए, और तव वह वापसी के लिये पलट पड़ा। अब अभिसार के राजा को अलिकसुंदर ने हज़ारा का क्षत्रप बनाया। उसका उसी-राज्य था, जिसकी राजधानी मसागा थी। इधर यवनों की ओर से पोरस झेलम और व्यास-नदियों के बीच का शासक नियत हुआ। तक्षशिला-नरेश को उन्होंने झेलम और सिंध-नदियों के बीच का शासक बनाया, तथा उसका पोरस से राजनीतिक मेल करा दिया। अब अलिकसुंदर दूसरे मार्ग से स्वदेश लौटा। मार्ग में सिनोई (शिबि)-राज्य अधीन हुआ। आगे अगलसोई लोग यवनों से लड़कर हारे। पंचनद में मालवीयों का प्रजातंत्र राज्य था। क्षुद्रक उनके सहज शत्रु थे। यवन-आक्रमण से ये दोनो मिल गए, किंतु जब तक ये मिलित दल का सेनापति नियत करें, तब तक यवनों ने बढ़कर दोनो को अलग-अलग पराजित कर दिया। एक मालवीय दुर्ग में कूदने में अलिकसुंदर के हृदय में एक बाण द्वारा कठोर क्षत लगा, जिसके आघात से दो वर्ष पीछे उसका देहांत ही हो गया। क्षुद्रक भी प्रजातंत्र राज्य था। अब निकेटर के स्थान पर फ़िलिप्स सिंध-नदी से पश्चिमी प्रांत का क्षत्रप नियत हुआ। इसी को फ़िलिप भी कहते थे। सिंध-देश में राजा मूषिक पहले

अधीनता स्वीकार करके पीछे ब्राह्मण मंत्रियों के उपदेश से लड़ा, किंतु पराजित हुआ। यवनों ने पातालपुरी पर एक दुर्ग बनाया। अनंतर अलिकसुंदर बलोचिस्तान के मार्ग से पलटा। वह हाला-पहाड़ के अस्तित्व से अनभिज्ञ था, जिससे उसे बहुत चक्कर खाकर जाना पड़ा। इस मार्ग में पिपासा के कारण यवन-सेना बहुतायत से मर-खप गई, और जो भारतीय सामान वे लूट में ले गए थे, वह जला डाला गया। जब अलिकसुंदर करमानिया में ही था, तब उसका क्षत्रप फ़िलिप्स चाणक्य के उकसाने से कुछ भारतीयों द्वारा, ३२३ ईसा पूर्व में, मार डाला गया। तब यूडेमस तथा [illegible] फ़िलिप्सवाले प्रांत के भी क्षत्रप नियत हुए। ३२२ ईसा पूर्व में, ३२ वर्ष की आयु में, मालवीयों द्वारा सक्षत अलिकसुंदर मार्ग में कष्टों से मर गया। यह मृत्यु बलोचिस्तान में हुई। यह देश भारत का अंग था। पेठन यवनों की ओर से सिंध-देश का शासक था।

यवन-आक्रमण के समय आर्य चाणक्य झेलम आ गए थे। जिन प्रांतों तथा राज्यों से, इनके प्रयत्नों से, मेल हुआ था, वह राजनीतिक संबंध उस काल तक इतना दृढ़ न हो सका था कि उसका प्रभाव यवन-दल पर पड़ता। जब यवनों द्वारा प्रायः पूरा सप्तसिंधु पद-दलित हो गया, तब लोगों ने अपनी निर्बलता का अनुभव किया, और चाणक्य के अनिवार्य प्रयत्नों से तद्देशीय भारतीयों को समझ पड़ने लगा कि बिना पूर्ण सहयोग के देश का मंगल नहीं हो सकता। इस प्रकार चाणक्य के प्राथमिक प्रयत्नों के आप-से-आप सफल होने का समय आने लगा। वह राजनीतिक संगठन अब परम शीघ्रता-पूर्वक दृढ़ हो गया। अब मुख्य-मुख्य साथियों के प्रतिनिधियों ने पोरस की राजधानी झेलम में एकत्र होकर भविष्य की कार्यवाही के विषय में विचार-विनिमय किया। सभी सज्जनों का मत हुआ कि जब तक सप्तसिंधु तथा सिंध-देश को मिलाकर एक राष्ट्र स्थापित न होगा, तब तक उत्तर-पश्चिमीय भारत का मंगल संभव नहीं। स्वयं आर्य चाणक्य तथा चंद्रगुप्त ने तक्षशिला जा-जाकर राजा अंभि को दो-तीन बार समझाया था, और पौरव की ओर से उसे स्वतंत्र राजा मानने का प्रस्ताव किया था,

तथापि उस देश-द्रोही नीच के चित्त में स्वजाति और स्वदेश-प्रेम का बीज न उग सका था। अब सबों की सम्मति हुई कि सबसे प्रथम इसी नीच को भारतीय स्वतंत्रता के मार्ग से हटाया जाय। अनंतर आर्य चाणक्य और उनके अनुयायी शिष्यवर्ग के प्रयत्नों से अंभि की प्रजा तथा सेना में स्वदेश-प्रेम का बीज हरा-भरा हो उठा, और जब स्वयं चंद्रगुप्त की अधीनता में पोरसवाला केवल दस सहस्र सैनिकों का दल तक्षशिला-राज्य पर आक्रमण-कारी हुआ, तब वहाँ की प्रजा तथा सेना ने अपने राजा की विशेष सहायता न की। स्वयं वह वीरता-पूर्वक लड़ कर चंद्रगुप्त के हाथ से मारा गया, तथा सारे तक्षशिला-राज्य पर पौरव का अधिकार हो गया। अनंतर सिंध पर भी आक्रमण करके इन्होंने पेठन को अधिकार-च्युत कर दिया। यह दशा देखकर यवन क्षत्रप यूडेमस ने छल-गर्भित प्रेम-भाव से पौरव से मिलकर समय पर उनका वध कर डाला। तब विवश होकर चंद्रगुप्त को पूरे झेलम राज्य पर अधिकार करना पड़ा, और यूडेमस पर भी यथासमय आक्रमण किया गया। उधर अलिकसुंदर के मरने पर उसके सेनापतियों में झगड़े होते रहते थे, जिसके कारण यूडेमस वापस बुला लिया गया। जब चंद्रगुप्त का पूरा अधिकार सारे सप्तसिंधु तथा सिंध-प्रांत पर हो गया था, तब झेलम और तक्षशिला के भारी कोषों की सहायता से इन्होंने पाटलिपुत्र पर भी आक्रमण कर दिया था। ऐसे समय चाणक्य को एक भारी भूमि-कोप भी मिला, जिसे इन्होंने राज्य को ही समर्पित कर दिया। उधर महामंत्री कात्यायन अलिकसुंदर की वापसी के पीछे, स्वास्थ्य के विचार से, दो वर्षों के लिये, काश्मीर चले गए। ऐसी दशा में चंद्रगुप्त के सहायकों को और भी अवसर मिल गया। अब आर्य चाणक्य, शकटार तथा विशालगुप्त के गुप्त प्रयत्नों से वहाँ की बृहदाकार सेना में असंतोष बहुत कुछ फैल गया। विशालगुप्त तथा कुछ इतरों के साथ अनुचित व्यवहार के कारण अन्य सेनापतियों की राजभक्ति भी न्यूनाधिक शिथिल पड़ गई। उनके महा-सेनापति भद्रशाल ने सेना को राजभक्त रखने का प्रयत्न बहुतेरा किया, किंतु यवनों से युद्धार्थ जो दल सिंह के समान गरज रहा था, वही धननंद

के नीच व्यवहारों से एक सताए हुए कुलीन मौर्य वंश के सम्मुख जान देने को प्रस्तुत न दिखा।

अब चंद्रगुप्त मौर्य की महती सेना ने आगे बढ़कर नवनंद-साम्राज्य पर प्रायः एक लक्ष युद्धकर्ताओं के बल पर घोर आक्रमण किया। जो सेना साम्राज्य रक्षणार्थ भेजी गई, उसका प्रायः तृतीयांश आक्रमणकारियों से मिल गया। तो भी महासेनापति भद्रशाल ने अपने विशाल रण-कौशल की सहायता से डटकर युद्ध किया। प्रायः पंद्रह दिवस पर्यंत कराल रण-रंग मचा रहा, जिसमें मौर्य नरेश विशालगुप्त तथा महामंत्री शकटार कठिन संग्राम करके काम आ गए। तो भी पूरे पंद्रह दिनों के पश्चात् नवनंद-सेना पराजित होकर पीछे हट गई, तथा चंद्रगुप्त ने आगे बढ़कर यथासमय स्वयं पाटलिपुत्र को घेर लिया। यहाँ भी दो-तीन सप्ताह-पर्यंत घोर युद्ध होता रहा। तब सम्राट् धननंद ने देखा कि उनका बचाव असंभव हो गया था। तब उन्होंने चंद्रगुप्त के पास अपने सांधिविग्रहिक द्वारा संधि के लिये प्रस्ताव किया। कई बार मंत्रियों के आने-जाने तथा विचार-विनिमय के अनंतर अंत में यह निश्चित हुआ कि सम्राट् धननंद अपनी सम्राज्ञी के साथ एक रथ पर बैठें, तथा दूसरे रथ में जितने निष्क और स्वर्णादि ले जा सकें, वह लेकर राजप्रासाद से चले जायँ, और पाटलिपुत्र के बाहर किसी वन में रहें। यह भी नियम था कि स्वर्ण के अतिरिक्त मणि-मुक्तादि कुछ न ले जायँ, केवल अलंकार ले जा सकेंगे। इस प्रकार संधि हो जाने पर सम्राट् राजप्रासाद से चले गए, और उनके साथ दो-चार सौ अनुयायी जाकर वन में भी उनकी सेवा करने लगे। नियम के प्रतिकूल वह मणि-मुक्तादि भी प्रचुर मात्रा में ले गए। यह समाचार आर्य चाणक्य को भी विदित हो गया, किंतु उन्होंने कोई कार्यवाही चलाने के पूर्व आगे का हाल देखने का निश्चय किया। युद्ध-समाप्ति के बाद चंद्रगुप्त का अधिकार पाटलिपुत्र तथा सारे साम्राज्य पर हो गया, और साम्राज्य की सेना में से जितने लोगों ने इनकी सेवा करनी चाही, और जो राजभक्त समझे गए, वे नवीन सेना में सम्मिलित हुए, तथा शेष पृथक् हो गए।

पितृवियोग के कारण तेरह दिन तक शोक मनाने को चन्द्रगुप्त ने स्वयं राजप्रासाद में प्रवेश न करके नगर के बाहर शिविरों में निवास किया। मौर्य नरेश एवं आर्य शकटार के विधि-पूर्वक मरणोत्तर-संस्कार किए गए। साम्राज्य-परिवर्तन के कारण पाटलिपुत्र में इन दिनों भारी अराजकता फैली, जिसे दबाने को आर्य चाणक्य की मंत्रणा के अनुसार चंद्रगुप्त ने मौनी तपस्वी जटलिन को प्रबंध स्थापित करने को नियोजित किया। आर्य चाणक्य साम्राज्य के महामंत्री नियुक्त हुए, एवं अन्य मंत्री भी उनकी सम्मति से यथायोग्य स्थापित किए गए, तथा सारे उत्तरी भारत का दक्षिण में नर्मदा अथच पश्चिम में सफ़ेद कोह तक उचित प्रबंध किया गया। जटलिन ने राजधानी की अराजकता दस-बारह दिनों में शांत कर दी। तदनंतर शुभ मुहूर्त में सम्राट् चंद्रगुप्त ने सम्राज्ञी दुर्धरा की इच्छा तथा गुरुदेव की मंत्रणा के अनुसार राजप्रासाद में प्रवेश करने का विचार किया। सारा प्रासाद नियमानुसार स्वच्छ कराया जा चुका था। तो भी आर्य चाणक्य ने स्वयं जाकर उसके एक-एक कोने तक को बहुत ध्यान-पूर्वक देखा, अथच विश्वकर्माओं द्वारा दिखलाया। बहुत ढूँढ़-खोज के पीछे स्वयं आपने देखा कि एक ओर से चींटियाँ भात के कनके ला रही थीं। इतने ही पर इन्हें संदेह हो गया। अब सारा प्रासाद पूर्णता के साथ फिर से दिखलाया गया, तो एक भारी तलघर का पता लगा, जिसमें प्रायः पंद्रह सशस्त्र वीर पाए गए। वे तुरंत बंदी कर लिए गए, और पता लगाने से विदित हुआ कि उनका नेता राज्य-च्युत सम्राट् धननंद का एक विश्वास-पात्र कार्यकर्ता था। वे सब कारागार भेज दिए गए, और उचित समय पर धूम-धाम के साथ सम्राट् ने राजप्रासाद में प्रवेश किया।

दो-चार दिन में एक परम सुंदरी गायिका सम्राट् की सेवा में उपस्थित हुई, जिसने अच्छे-से-अच्छे गाने सुनाए। उसके गाने और नृत्य-संबंधी चातुर्य से सारी सभा अत्यंत प्रसन्न हुई। अनंतर रात्रि को वह युक्ति-पूर्वक इनके शयन-गृह में पहुँचा दी गई। जब आप शयनागार को गए, तब उसे वहाँ देखकर बहुत आश्चर्यान्वित हुए। उसने अनेक हाव-भाव

तथा प्रार्थनाओं के साथ सहवास का प्रयत्न किया, किंतु इंद्रियजित होने से आपने उसे वहाँ से तुरंत बाहर निकलवा दिया। दूसरे दिन उसे आर्य चाणक्य की कुटी पर जाँच के निमित्त भेजवाया, क्योंकि बिना इनकी इच्छा के वह शयनागार में प्रविष्ट होने से संदिग्ध मानी गई थी।

आर्य चाणक्य ने उसके विषय में जाँच करवाई, तथा उन लोगों की भी खोज लगवाई, जिनके द्वारा वह शयनागार जा सकी थी। बहुत देख-भाल के पीछे प्रकट हुआ कि वह नवनंद-राज्य द्वारा परम गुह्यरूपेण पालित एक विष-कन्या थी, जिससे संसर्ग करनेवाला तुरंत मृत हो जाता था। तब उसे उचित दंड दिया गया, और उसके गुप्त सहायक भी कारावासी किए गए।

इस प्रकार स्वयं सम्राट् पर दो घातक वार धननंद द्वारा किए जाने से आर्य चाणक्य उससे बहुत अप्रसन्न हुए। यह कुछ करने के विचार में ही थे कि योगिनी सुनंदा एक बार स्वयं पाटलिपुत्र में सम्राट् को देख पड़ीं। इन्होंने बहुत प्रेम-पूर्वक उनसे एकांत स्थल में वार्तालाप किया।

चंद्रगुप्त—कहिए देवीजी महोदया! बहुत दिनों के पीछे आज दर्शन हुए। चित्त प्रसन्न तो है?

सुनंदा—देव की कृपा से बहुत अच्छी हूँ।

चंद्रगुप्त—कहिए, क्या अब भी मेरी विनम्र प्रार्थना स्वीकार होने का समय नहीं आया?

सुनंदा—कौन-सी प्रार्थना? वत्स!

चंद्रगुप्त—मुझे वत्स आदि कहकर पुकारने की कृपा न किया कीजिए देवीजी! मैंने पहले ही बिनती की थी कि जब कभी दर्शनों का सौभाग्य होगा, तब आपसे विवाहार्थ प्रार्थना अवश्य किया करूँगा। वही करबद्ध बिनती आज भी है।

सुनंदा—मैंने तो दुर्धरादेवी का विवाह आपसे करा ही दिया है। क्या ऐसी देवी-तुल्य, सौंदर्य की मूर्तिमती प्रतिमा पाकर भी संतोष नहीं है, जो एक जगन्माता से ऐसी अनुचित वार्ता विना किए रहा नहीं जाता?

चंद्रगुप्त—संतोष तो पूरे से भी अधिक है। ऐसी सम्राज्ञी पर भला कौन तन-मन-धन निछावर न कर देगा ? ऐंद्रिय सुख का प्रश्न यह नहीं है देवीजी ! मैंने मूर्खता-वश घोर अन्याय करके इस कोमल कुसुम को अकाल में ही मसल डाला है। अब इसे फिर से सजीव एवं सौरभित करने की इच्छा है। इतना भारी पाप करके ईश्वर को क्या मुख दिखलाऊँगा ? यही भय है। हे धर्ममूर्ति ! मेरा पाप क्षमा करके ईश्वर के सामने मुख उज्ज्वल कर दीजिए। मुझे प्रसन्नता की कमी नहीं है, केवल आपका सुख वांछित है।

सुनंदा—है आपके कथन में बहुत कुछ सार, किंतु इतनी भूल है कि आप शुद्ध धार्मिक जीवन को सुखमय नहीं मानते। आपने मेरे साथ कोई अनीति नहीं की। मैं अभी से ईश्वर के सम्मुख आपका आचरण परम शुद्ध मानती हूँ। यदि मैं दुःखी होती, तो बात और थी, किंतु ऐसा है तो नहीं।

चंद्रगुप्त—है क्यों नहीं ? मुझे निश्चय नहीं पड़ सकता।

सुनंदा—आपके एक बार मेरी प्रतीति न करने से मुझे ईश्वर का प्रेम प्राप्त हुआ। अब ऐसी दूसरी भूल से इससे भी ऊँचा कौन पद है, जो मिलेगा ?

चंद्रगुप्त—वह पद सम्राज्ञी का है।

सुनंदा—क्या इतनी विद्वत्ता और योग्यता प्राप्त करके इस भारी विषय पर आपकी मानसिक उन्नति इतनी ही है ?

चंद्रगुप्त—है तो यही बात। मान जा मानिनी ! मेरी भी भूल सुधार दे। तुमने मुझे दो प्राणेश्वरी देवियाँ दिलाने तथा प्राण-रक्षा में भी सफल सहायता की। एक इसी बात में क्यों हठ करती हो ? मान जाओ, मेरा दुलार रख लो। इस अपने ही राजप्रासाद को समुज्ज्वल बना दो। मैंने तुम्हारा साम्राज्य छीना है; यदि तुम भी उसका भोग करने लगो, तो मेरा अन्याय दूर हो जाय। हम-तुम दोनो तुम्हारा साम्राज्य तुम्हारी ही इच्छा से भोगें।

शकटार मारे गए। इसका मुझे कोई उपालंभ नहीं है, किंतु मैं तो उन्हें बचा रहा हूँ, और वह मेरे वध पर उतारू हैं। यह मामला कब तक चलेगा ?

सुनंदा—मैं इन राजनीतिक विषयों में नहीं पड़ना चाहती। उनका-आपका राजनीतिक तथा शत्रुता का संबंध है, अथच मेरा प्रेम-गर्भित। भला, मैं इन दोनो प्रतिकूल दशाओं को कैसे मिला सकूँगी ?

चंद्रगुप्त—तो भी मेरी प्रार्थना है कि पिता होने के नाते एक बार उन्हें चेता दीजिए। आप ही के कारण मैं उनका अमंगल नहीं चाहता। सम्राट् मेरा शत्रु था, किंतु धननंद नहीं।

सुनंदा—बड़ी कृपा। अच्छा, मैं अब उनसे मिलूँगी। लज्जा तो लगेगी, किंतु आपकी इच्छा का पालन कर दूँगी।

चंद्रगुप्त—बहुत बड़ी कृपा होगी। क्या मेरी प्रार्थना भी स्वीकार न होगी ?

सुनंदा—(हँसकर) नहीं। और सभी प्रार्थनाएँ स्वीकार होंगी, एक यही बात न कहा कीजिए।

चंद्रगुप्त—कहूँगा तो सदैव; मानना-न मानना आपके अधीन है।

इस प्रकार वार्तालाप के पीछे सुनंदादेवी सम्राट् से बिदा होकर वन में अपने पिता की सेवा में उपस्थित हुई। इसी बीच इनकी माता सम्राज्ञी का शरीरांत, पंद्रह-बीस दिन पहले, हो चुका था। अपनी कन्या को देखकर धननंद प्रसन्न होकर बोले—

धननंद—बेटी ! आ, एक बार मेरे हृदय से लग जा। मैं राजपाट तथा तेरी माता तक को खो चुका हूँ, अब मेरी जीवनाधार एक तू ही रह गई है।

सुनंदा—(पिता के चरण स्पर्श करके) पूज्य पिताजी ! आपको ऐसी दशा में देखकर मैं बहुत दुःखी हूँ। आशा है, किसी प्रकार अपना चित्त प्रसन्न रखने में समर्थ हो सकेंगे।

धननंद—बेटी ! अब प्रसन्नता का क्या कथन है ? अब तो मरण-मात्र शेष है। आर्य कात्यायन महोदय दो साल के लिये अवकाश पर क्या गए, यहाँ सारा-का-सारा ढचर बैठ ही गया।

सुनंदा—पिताजी ! मन होता तो है बड़ा चंचल, प्रमाथी, बलवान् और दृढ़, किंतु अभ्यास और वैराग्य से स्ववश हो सकता है ।

धननंद—क्या कहूँ बेटी ! कथन तो तेरा सत्य है, किंतु मेरे वश का नहीं । इतना ही चित्त स्ववश रखने का अभ्यासी होता, तो तेरा वैवाहिक प्रयत्न क्यों भंग होता, और मेरा साम्राज्य क्यों जाता ? दोनो वार आर्य कात्यायन समझाते रहे, किंतु मेरा दर्प-पूर्ण चित्त न माना ।

सुनंदा—जो हो गया, उसके लिये शोक अनावश्यक है । अब भविष्य का विचार कीजिए पूज्य पिता जी !

धननंद—उसके पहले यह पूछना चाहता हूँ कि अपनी माता को और मुझे छोड़कर तू योगिनी क्यों हो गई ?

सुनंदा—जब किसी और से विवाह पसंद न आया, और अवैवाहिक गार्हस्थ्य जीवन फीका दिखा, तथा आपके द्वारा विवाह के संबंध में दबाव पड़ने का भी भय था, तब मुझे ईश्वर की ही शरण में जाना ठीक जँचा ।

धननंद—क्या उस अभिमानी मौर्य से कभी भेंट न हुई ?

सुनंदा—हुई तो कई बार । वह मेरा ऐसा निरभिमान भाव समझकर विवाहार्थ शतशः प्रार्थनाएँ करते रहे; कल भी बहुत कुछ कहते-सुनते थे, किंतु एक बार ईश्वर की शरण होकर मैं किसी मनुष्य से अनुरक्त कैसे होती ? यह विषय अब अविचारणीय है ।

धननंद—तेरे उच्च मानस से बेटी ! मैं बहुत प्रसन्न हूँ । उस मौर्य कुमार का भी तुझसे व्यवहार अच्छा रहा; केवल मुझी से उसने पूरा वैर निकाल लिया ।

सुनंदा—पूज्य पिताजी ! आजकल आप पूर्णतया उनके अधिकार में हैं । युद्ध में उनके पिता का जो वध हुआ, उसका उन्हें कोई उपालंभ नहीं है, किंतु जो उन्हें धोखे से मारने के आपने दो प्रयत्न किए, वे आपकी महत्ता के प्रतिकूल थे । बदला लेने का विचार उनके अमात्यों का था, किंतु उन्होंने ऐसा न होने दिया । अब भविष्य के लिये आपको चैतन्य हो जाना चाहिए । या तो सम्मुख युद्ध हो, या साम्राज्य के बाहर जाकर कुछ भी

कीजिए. किंतु उन्हीं के अधिकार में रहकर उनके वध का छल से प्रयत्न आपके लिये भी मंगलकारी न होगा।

धननंद—मैंने तो ऐसे कोई प्रयत्न किए नहीं बेटी !

सुनंदा—तलघर में आपके कृपा-पात्र सशस्त्र सैनिक पाए गए, तथा विषकन्या का प्रयोग आपके सहायकों द्वारा उन पर हुआ। ये दोनो कार्य चाहे आपके हों नहीं, तथापि वहाँ समझे आप ही के जाते हैं। यदि भविष्य में ऐसी कोई बात होगी, तो आपको भी कष्ट संभव है। मैं स्वयं उन्हीं के कहने से यह प्रार्थना आपसे कर रही हूँ।

धननंद—किया तो बेटी ! मैंने कुछ नहीं था, किंतु उनके ऐसे विचारों के कारण अब और भी चैतन्य रहूँगा।

अनंतर दो-तीन पहर तक वहीं रहकर सुनंदा पिता को प्रसन्न करने के प्रयत्न करती रही, और तब उनसे आज्ञा लेकर अपने धर्म-कार्य में पुनः प्रवृत्त हुई। उन्होंने भी उसे चंद्रगुप्त से विवाह कर लेने की शिक्षा दी, किंतु धार्मिक विचारों तथा लोक-लाज के कारण उसने स्वीकार न किया। कन्या के ऐसे उच्च विचार समझकर धननंद दो-चार दिनों के लिये तो बहुत लज्जित हुए, किंतु पीछे साम्राज्य खोने के कारण चंद्रगुप्त से अपनी अप्रसन्नता सँभाल न सके।

उधर आर्य चाणक्य ने धननंद के अपकर्मों के कारण उन पर दंड-प्रयोग का प्रस्ताव किया, किंतु चंद्रगुप्त ने शिष्य-भाव की नम्रता न छोड़ते हुए यह प्रार्थना की कि एक बार उन्हें आत्मसुधार का अवसर फिर दिया जाय। अनंतर कृत्रिम झगड़ा दिखलाकर आर्य चाणक्य को अहितुओं के जानने की इच्छा हुई।

नवम परिच्छेद

धननंद-पराभव

सम्राट् चंद्रगुप्त ने एक दिन एकांत में सम्राज्ञी दुर्धरा से प्रेम-पूर्ण संभाषण उठाया। वह इस प्रकार चला—

चंद्रगुप्त—प्राणेश्वरी ! आपका साधारण भाव जो तक्षशिला में चल रहा था, वही अब भी चला जाता है। मैंने वहाँ तुम्हें प्रसन्न करने के सैकड़ों उपाय किए, जिनमें सफल भी हुआ, तथापि तुमने मेरा वास्तविक भाव और प्रयत्न वहाँ कभी न जान पाया।

दुर्धरा—मैंने तो आपको एक श्रेष्ठ भद्र पुरुष एवं मित्र समझा था। मैं क्या जानती थी कि भद्रत्व के भीतर स्वार्थ-भाव भी लगा हुआ है !

चंद्रगुप्त—यही तो आपका साधारण मानस था, जो सिवा अभिधा के ध्वनि-व्यंग्यों की ओर जाता ही न था। कोई आंतरिक इच्छा न होने से भला मुझे क्या पड़ी थी कि एकाएकी प्रार्थना-सी करके द्विसाप्ताहिक उपाहारों का प्रबंध करता ?

दुर्धरा—यह तो मित्रता-भर की बात थी। हमीं लोगों को क्या आवश्यकता ऐसा करने की थी ?

चंद्रगुप्त—आप दोनो ने तो मेरी प्रार्थना स्वीकार-भर की थी, कुछ अपनी ओर से इच्छा प्रकट न की थी।

दुर्धरा—पहले दिन उपाहार-संबंधी निमंत्रण के स्वीकारने में तो आपने बड़ा आगा-पीछा किया था। यह क्या बात थी ?

चंद्रगुप्त—"मन भावै, मूड़ हिलावे" का मामला था; एकाएकी खाने को क्या दौड़ पड़ता ? कुछ तो रूप रक्खा जाता है। स्वीकारने को तो परमोत्सुक था ही।

दुर्धरा—आप भी नाटक अच्छा दिखला सकते हैं। जब योगिनी माता ने आपके द्वारा मेरी ओर से भ्रातृत्व का विचार न मानने के अर्थ बतलाए, तब जाकर बात मेरी समझ में आई।

चंद्रगुप्त—भला, किसी समय समझ तो पड़ी, यही बड़ी बात है।

दुर्धरा—भला, मैं पूछती हूँ कि योगिनी माता का-सा भी निष्कपट तथा निरहंकार स्वभाव क्या किसी का होगा ? इन्हें अभिमानिनी समझने की भूल आपने कैसे करके बेचारी का जीवन ही सत्यानास कर दिया ?

चंद्रगुप्त—भूल कुछ भी न की; उस काल उनकी प्रकृति साभिमान अवश्य थी। मैं इतना न समझता था कि एकाएकी उसे वह पूर्णतया बदल सकेंगी।

दुर्धरा—दृढ़ता तो उनमें इतनी है कि वह योगिनीपन भी किसी भाँति न छोड़ेंगी। आपने की पूर्ण सज्जनता, जो उन्हें कई बार पत्नीत्व का पद अर्पण किया, किंतु वह अटल हैं।

चंद्रगुप्त—तुम्हें पाकर मुझे किसी और स्त्री की इच्छा स्वप्न में भी नहीं हो सकती, किंतु न्याय के कारण इन्हें तथा उपकार और भद्रत्व के कारण हेलेनदेवी को चाहता अवश्य हूँ। आशा है, आपको इससे कुछ बुरा न लगेगा।

दुर्धरा—बुरा लगने की कौन-सी बात है ? इतना अवश्य है कि परमेश्वर ने मेरे प्रिय भाई तथा पूज्य पिता को उठा लिया, अब मेरे लिये जो कुछ हो, तुम्हीं हो। यदि तुम्हारे प्रेम में तिल-मात्र न्यूनता आ जाय, तो मेरा जीवन ही अकार्थ हो जाय। अन्य विवाहों से मुझे बुरा नहीं लगता। भारतीय नरेश ऐसा किया ही करते हैं। मुख्यता शुद्ध प्रेम की है।

चंद्रगुप्त—भला, ऐसी अलौकिक सुंदरी, गुणवती तथा शुद्ध-हृदया, प्रेम-मूर्ति सम्राज्ञी से विमुख कौन पामर हो सकता है ? फिर तुम पुत्रवती भी हो चुकी हो। जिसने मुझे परम सुंदर बिंदुसार युवराज दे रखा है, उसके प्रेम का निरादर असंभव समझे रहो। फिर तुम्हारे ही पिता के राज्य से बल बढ़ाकर मैंने यह साम्राज्य प्राप्त किया है। वास्तव में है यह सब तुम्हारी ही संपदा। मैं तो एक प्रबंधक-मात्र हूँ।

दुर्धरा—साम्राज्य को कौन पूछता है ? मैं तो केवल पति-प्रेम को सर्वस्व मानती हूँ ।

चंद्रगुप्त—धन्य है आपके महान् प्रेम को ! मैं शपथ खाकर बिनती कर सकता हूँ कि मेरा सर्वस्व सदैव इन चरणों पर अर्पित रहेगा। तुम्हारे भ्राता और पूज्य पिता के असमय उठ जाने का मुझे भी अत्यंत शोक है। क्या ही श्रेष्ठ वीर थे, तथा पिताजी नख से शिखा-पर्यंत राजा थे। किसी से कभी तिल-भर दबकर बात न की। स्वयं युद्ध में कूदकर प्राण-संकट सहे, किंतु मुझे ऐसा न करने दिया। साक्षात् देवता थे।

दुर्धरा—भ्राता के अमंगल हो जाने से आप के भी कठिन युद्धार्थ भेजने में उन्हें वंश-नाश का खटका हो गया था। सौभाग्य-वश अभी से बिंदुसार उनका पिंडदाता प्रस्तुत हो चुका है। क्या ही अच्छा लड़का है !

चंद्रगुप्त—इसमें क्या संदेह है ? हमारे कक्कूजी भी अनावश्यक रीत्या स्वयं कठिन युद्ध में कूदकर बेचारे स्वर्गवासी हो गए। आर्य शकटार के भी विनाश का मुझे बड़ा दुःख है।

दुर्धरा—रण-रंग की बात ही ऐसी है, इसमें जीवन की बाज़ी लगी रहती है। हम दोनो के पूज्य पिता बेचारे असमय में ही स्वर्ग सिधार गए। क्या कहा जाय !

चंद्रगुप्त—अच्छा, यह तो बतलाओ कि झेलम से यहाँ तुम्हें अच्छा लगता है या नहीं ?

दुर्धरा—वहाँ केवल झेलम-नदी थी, और यहाँ गंगा और सोन-भद्र दोनो हैं। राजधानी थी वह भी श्रेष्ठ, किंतु पाटलिपुत्र की बात ही और है। तुम्हारा भाग्य बड़ा प्रबल है। जब मैं पहले तुम से मिली थी, तब अपने को राज्य की महत्ता में बहुत श्रेष्ठतर समझती थी; अब बात ही और हो गई है। गुणों में भी क्या ही आश्चर्य निहित रहता है ? कहाँ तो इसी राज्य के एक साधारण सेनापति के पुत्र थे, और कहाँ यहीं के सम्राट् बन गए। ईश्वर ने तुम्हें सहारा खूब ही दिया।

चंद्रगुप्त—तो यहाँ तुम्हें लगता अच्छा है न ?

दुर्धरा—अच्छा क्यों न लगेगा ? कहाँ तो एक साधारण राज्य था, और कहाँ भारतीय साम्राज्य प्राप्त हो गया ! ईश्वर से यही प्रार्थना है कि इस वंश में साम्राज्य युगों-पर्यंत स्थापित रहे ।

चंद्रगुप्त—कुछ देखने-सुनने की आजकल क्या, कभी इच्छा नहीं होती ? तक्षशिला में तो सरोवर में नौकारोही होकर सैर की जाती थी ।

दुर्धरा—उसका स्वाद भी तो अच्छा मिल चुका है । इधर-उधर की सैर कुछ कम नहीं हुई है ।

चंद्रगुप्त—वह नौका तो तुम्हारी भूल से उलट गई थी ।

दुर्धरा—तो भी मैं अब जल-विहार के कभी निकट न जाऊँगी ।

चंद्रगुप्त—अच्छा, वसंतोत्सव देखोगी ?

दुर्धरा—इसमें कोई दोष नहीं है । आप तो इन दिनों साम्राज्य-संबंधी प्रबंध में ऐसे लगे रहे कि मन-बहलाव की ओर ध्यान ही न गया ।

चंद्रगुप्त—थोड़ी-सी भूल से प्राण-संकट का भी तो भय रहता है । जब तक धननंद प्राणहारिणी युक्तियाँ चला रहा है, तब तक बहुत ही सचेत रहने की आवश्यकता है ।

दुर्धरा—तब फिर वसंतोत्सव कैसे होगा ?

चंद्रगुप्त—गुरुदेव सभी प्रकार से चैतन्य रहते ही हैं । यदि कोई विघ्न या भय समझेंगे, तो उचित प्रबंध कर देंगे ।

दुर्धरा—उन्हीं के प्रयत्नों के कारण आपको निश्चितता भी रहती है ।

चंद्रगुप्त—सो तो हुई है । (कुछ उच्च स्वर से) अरे कौन है ? (कंचुकी का प्रवेश ।)

कंचुकी—आज्ञा देव !

चंद्रगुप्त—आज्ञापक से कह दो कि इस बार वसंत-पंचमी के संबंध में पाटलिपुत्र में वसंतोत्सव का प्रबंध कराया जाय ।

कंचुकी "जो आज्ञा देव !" कहकर बाहर जाता है ।

चंद्रगुप्त—क्या बेटे बिंदुसार को बुलवाने की कृपा होगी ?

दुर्धरा "जैसी इच्छा" कहकर परिचारिका द्वारा पुत्र को बुलवाती है। चंद्रगुप्त उसे प्रेम-पूर्वक खेलाता है। अनंतर उचित समय पर, राजप्रासाद की ऊँची छत में, बसंत-पंचमी के दिन, मेले का कोई संभार न देखकर सम्राट् को आश्चर्य होता है, और वह कंचुकी को बुलवाकर यों बात करता है—

चंद्रगुप्त—कंचुकी! मैंने आज के लिये मेले के संबंध में उस दिन आज्ञा दी थी; क्या तुमने उसका प्रबंध न कराया?

कंचुकी—भला, ऐसा कहीं संभव है कि देव की आज्ञा होने पर भी यह सेवक उसका पालन न करे? उसी समय आज्ञापक द्वारा सारा प्रबंध करा दिया गया था।

चंद्रगुप्त—तब फिर मेला हो क्यों नहीं रहा है? तुम्हीं देखो न, न तो उत्तम वस्त्राभूषण, पुष्पमालादि धारण किए हुए कोई लोग फिरते हैं, न कहीं सजे-सजाए पण्य दिखते हैं, न मेले का और कोई संभार! कंचुकी! बात क्या है?

कंचुकी—देव की आज्ञा नितांत सत्य है।

चंद्रगुप्त—कहते क्यों नहीं कि ऐसा क्यों है?

कंचुकी—देव! किसी और से पूछ लिया जाय; मैं छोटे मुँह बड़ी बात कैसे कहूँ?

चंद्रगुप्त—इसमें बड़ी बात क्या है? साधारण-सा तो मामला है।

कंचुकी—राजाज्ञा-भंग कहीं साधारण होता है? मैं लघु अनुचर होकर ऐसे विषयों में कैसे पड़ सकता हूँ?

चंद्रगुप्त—मैं क्या किसी से कहने जाता हूँ कि मुझे किसने बतलाया?

कंचुकी—तब फिर विवश होकर बिनती करता हूँ कि उत्सव रोका गया है। आज्ञापक का दोष नहीं है।

चंद्रगुप्त—(कुछ क्रुद्ध होकर) बोलो, वसंतोत्सव किसने रोका?

कंचुकी—महामंत्री महोदय ने; और कौन ऐसा कर सकता था?

चंद्रगप्त—गुरुदेव का यह असह्य अहंभाव है कि इस भाँति मेरी

छोटी-छोटी आज्ञाएँ भी रोक दी जाती हैं ! क्या यह उचित है ? मैं यह सह नहीं सकता ।

कंचुकी चुप रहता है ।

चंद्रगुप्त—बोलो कंचुकी, बोलते क्यों नहीं ?

कंचुकी—देव ! बड़ों के बीच में सम्मति देने वाला मैं कौन ? मेरा ऐसा महत्त्व कहाँ है ?

चंद्रगुप्त—अच्छा, गुरुदेव से प्रणामानंतर निवेदन करो कि यदि किसी कार्य में विघ्न न होता हो, तो क्या मुझे दर्शन-लाभ हो सकता है ?

कंचुकी—जो आज्ञा देव !

इस प्रकार कहकर कंचुकी आर्य चाणक्य की कुटी में जाकर, आज्ञा प्राप्त करके, अंदर पहुँचकर गुरुदेव को नम्र भाव से प्रणाम करता है ।

चाणक्य—कहाँ कंचुकी ! क्या चाहते हो ?

कंचुकी—गुरुदेव ! सम्राट् ने मुझे राजप्रासाद की छत से चरणों में प्रेषित करके विनम्र प्रणाम कहा है, और प्रार्थना की है कि यदि किसी कार्य-विशेष में बाधा न पड़ती हो, तो क्या उन्हें दर्शन-लाभ हो सकता है ?

चाणक्य—क्या वसंतोत्सव के रुकने के कारण ऐसी इच्छा हुई है ?

कंचुकी—आर्य ! सम्राटों के चित्त का हाल मैं क्या जान सकता हूँ ?

चाणक्य—उन्हें छत पर किसने चढ़ाया ?

कंचुकी—आर्य ! वह स्वयं सम्राज्ञी के साथ ऊपर पधारे थे ।

चाणक्य—उस समय वार्ता क्या हुई थी ?

कंचुकी—मैं क्या जान सकता हूँ ? आर्य ! मैं तो बुलाने पर ही जाता हूँ ।

चाणक्य—पूछने का प्रयोजन यह कि तुमसे क्या वार्ता हुई थी ?

कंचुकी—मुझसे तो यह पूछा गया था कि वसंतोत्सव क्यों न हुआ ?

चाणक्य—तब तुमने क्या उत्तर दिया ?

कंचुकी—मैंने तो आर्य ! यह बिनती की कि महापुरुषों के बीच में मुझे कुछ कहने का अधिकार नहीं ।

चाणक्य—तब उन्होंने मेरे द्वारा उत्सव का रुकना कैसे जाना ?

कंचुकी—जब उन्होंने मेरे तथा आज्ञापक के द्वारा राजकीय आज्ञा के प्रचार में संदेह किया, तब मैंने विनती कर दी कि आज्ञा-प्रचार में कोई त्रुटि न थी ।

चाणक्य—इस पर उन्होंने पूछा होगा कि उत्सव किसके द्वारा रुका, और तब तुमने मेरा नाम लिया होगा ।

कंचुकी—यही बात हुई थी; आर्य ! मेरा कोई दोष न था । मैं तो उत्तर से बहुत बचता रहा था, किंतु देव की आज्ञा से विवश हो गया । मैं तो किसी भी प्रश्न का उत्तर न देना चाहता था, किंतु हर प्रकार से विवश किया गया ।

चाणक्य—तुम डरते क्यों हो ? मैं क्या कुछ कहता हूँ ? सेवक होकर उत्तर देना ही पड़ता है ।

कंचुकी—बड़ी ही कृपा हुई आर्य !

इस प्रकार वार्तालाप होने के बाद सुसज्जित रथ पर महामंत्रीजी विराजे, और सारथि के निकट कंचुकी बैठ गया । राजप्रासाद में पहुँचकर वह रथ तीन डेवढ़ियों के भीतर घुसता चला गया । अनंतर उतरकर कंचुकी के नेतृत्व में महामंत्री महोदय प्रासाद की छत पर सम्राट् के निकट पहुँचे । उन्होंने उठकर इनका अभिवादन किया, और प्रणाम-आशीर्वाद के पीछे दोनो उचित आसनों पर विराजे । बातें होने लगीं—

चाणक्य—आज कुछ असमय मेरा स्मरण हुआ है; वृषल ! क्या बात है ?

चंद्रगुप्त—गुरुदेव के दर्शनों की प्रसन्नता का सुख क्या कम कारण है ?

चाणक्य—हुआ-हुआ, बहुत कुछ व्यवहार हो चुका; अब वास्तविक बात कहो, क्योंकि सम्राट् किसी का समय अनावश्यक रीत्या नष्ट नहीं करते ।

चंद्रगुप्त—गुरुदेव ऐसों में नहीं हैं; उनके दर्शनों का फल महान् है। फिर भी आज यह जानने की इच्छा है कि वसंतोत्सव होने में क्या कोई दोष था ?

चाणक्य—यही तो मैं भी समझता हूँ। आज उपालंभ ही के लिये संभवतः मेरा स्मरण हुआ है। है न यही बात ? वृषल !

चंद्रगुप्त—यह बात नहीं है गुरुदेव ! मुख्य आनंद दर्शनों का था। आर्य के पूछने पर विवश होकर एक बात भी कह दी।

चाणक्य—मेरे विचार से यह समय प्रबंध का है, उत्सवादि का नहीं। शत्रु सिर पर प्रस्तुत है। उसके दो वार हो चुके हैं; क्या तीसरे के आह्वान की भी इच्छा थी ?

चंद्रगुप्त—गुरुदेव से उत्तर-प्रत्युत्तर का मेरा स्वभाव नहीं है। फिर भी यह उत्तर बहुत बुद्धिग्राह्य नहीं दिखता।

चाणक्य—उत्तर तो हो ही चुका; अब कारण जानने की आवश्यकता होगी।

चंद्रगुप्त—शत्रु के प्रहारों का यदि ऐसा डर किया जाय, तो आह्निक भोजन करने, स्नानादि में क्या भय नहीं है ? शंका तो सभी कहीं उपस्थित हो सकती है। ऐसी दशा में उत्सव में ही क्या विशेषता थी ?

चाणक्य—मैंने अब तक जैसा मंत्रित्व किया है, वह अपने विचारों के अनुसार हुआ है, न कि इतरों के। यदि आप ही को हर बात में अपनी चलानी है, तो मंत्रियों की क्या आवश्यकता है ?

चंद्रगुप्त—मंत्री का काम है मंत्र देना, न कि आज्ञा देना ? आज्ञा नरेशों के अधिकार की बात है। उनके शासनों का भंग होना भी यदि बिना उनके पूछे हो सके, तो राज्य उनका न होकर किसी अन्य का हो जायगा, और वे केवल मुकुट के भार-वाहक रह जायँगे।

चाणक्य—जब वे यवन-देश में थे, तब भारत में आज्ञा कौन देता ?

चंद्रगुप्त—तब मंत्री आज्ञा भी दे सकता था, किंतु उनकी उपस्थिति में नहीं।

चाणक्य—यह अधिकार अब तक छुड़ाया न गया था। मंत्री मंत्र अवश्य देता है, किंतु प्रबंध भी करता है।

चंद्रगुप्त—तो अब छुड़ाया जाता है। अब मेरी आज्ञा चलेगी।

चाणक्य—उचित आज्ञाएँ बराबर चलेंगी, तथा सदैव चलती थीं, किंतु अनुचित न चलेंगी।

चंद्रगुप्त—औचित्य का निर्णय कौन करेगा?

चाणक्य—सारा मंत्रिमंडल, जिसका राजा भी एक सदस्य है। राज्य के सात अंग हैं, जिनमें राजा एक है, और एक मंत्री।

चंद्रगुप्त—क्या राजाज्ञा मंत्री पर बाध्य नहीं?

चाणक्य—मंत्री हुक्का-बरदार नहीं है। वह मंत्र देगा। राजाज्ञाएँ बजाना किसी और का काम है।

चंद्रगुप्त—अपने कार्यों का उत्तरदाता तो है?

चाणक्य—अवश्य।

चंद्रगुप्त—तब मैं अभी से पूर्ण राजभार उठाता हूँ।

चाणक्य—अच्छी बात है; मेरा भार हल्का हो गया। मैं भी अब से केवल महामंत्रित्व का भार वहन करूँगा।

चंद्रगुप्त—जब यही है, तब मैं पूछता हूँ कि वसंतोत्सव क्यों रोका गया? क्या इस विषय में मंत्रिमंडल की सम्मति मिल चुकी थी?

चाणक्य—मैं भी उत्तर देता हूँ कि शत्रु के अति निकट होने से यह अभी तक एक प्रकार से युद्ध का समय है, न कि शांति का। ऐसे अवसर पर उत्सवों की आज्ञा देना केवल मूर्खता थी।

चंद्रगुप्त—क्या मंत्रिमंडल में यह विषय उपस्थित हुआ था?

चाणक्य—नहीं, न ऐसे क्षुद्र विषयों पर कालापव्यय करने का मंत्रियों के पास समय है। वे विशेष सार-गर्भित कार्य किया करते हैं। यदि राजा चाहे, तो कोई विषय मंत्रिमंडल में उपस्थित हो सकता है, किंतु ऐसे-ऐसे तुच्छ विषयों पर इतना विचार होने से मंत्रियों की संख्या बढ़ानी पड़ेगी।

चंद्रगुप्त—अच्छा, मैं कई और प्रश्न भी पूछूँगा।

चाणक्य—मैं भी कई उत्तर दूँगा।

चंद्रगुप्त—मैं पूछता हूँ कि नवनंद-सेना से युद्धों में व्यूह ऐसी अयोग्यता से क्यों बनाए गए कि मेरे पूज्य पिता तथा आर्य शकटार का शरीरांत ही हो गया?

चाणक्य—व्यूह बनाना महासेनापति का काम है, न कि महामंत्री अथवा मंत्रिमंडल का। युद्धकर्ताओं को अपने को बचाकर लड़ना पड़ता है। अंधाधुंध लड़ाइयाँ करने से ऐसे ही फल प्राप्त होते हैं, जो सामने आए। महामंत्री का काम युद्ध न था। फिर कौटिल्य होकर भी इस विष्णुगुप्त ने खड्ग भी चलाया। उसके लिये धन्यवाद तो दूर रहा, उलटे उपालंभ का समय सम्मुख आया।

चंद्रगुप्त—मैंने स्वयं आपके युद्ध की समीक्षा कब की? मैं तो पूज्य पिताजी तथा आर्य शकटार के विनाश की बात पूछता हूँ।

चाणक्य—यह प्रश्न महासेनापति से पूछिए। मैं तो समझता हूँ कि यदि महती प्रवीणता से युद्ध न होता, तो विजय के स्थान पर पराजय प्राप्त होती।

चंद्रगुप्त—उत्तर तो ठीक दीखता नहीं, किंतु मैं यह भी पूछूँगा कि अलिकसुंदर के पास जब केवल साठ सहस्र सैनिक थे, तब उसके प्रतिकूल उचित प्रयत्न करके उसे भारत ही में समाप्त क्यों न किया गया?

चाणक्य—उस काल आप भी तो झेलम में प्रस्तुत थे; ऐसा प्रचंड पौरुष किस दिन के लिये रख छोड़ा था कि साले दुर्धर्षजी स्वर्गवासी हो गए, तथा श्वशुर पौरव महोदय सक्षत हुए?

चंद्रगुप्त—अपने व्यक्तिगत पौरुष की मैंने प्रशंसा कब की? मैं तो मंत्रियों की बात कर रहा हूँ।

चाणक्य—मंत्री आपके हैं सारे-के-सारे अयोग्य, नहीं तो साम्राज्य बहुत पूर्व क्यों न प्राप्त हो जाता? प्रवीण मंत्री रखने से २५ वर्ष की आयु के स्थान पर आप दस वर्ष की ही अवस्था में सम्राट् हो जाते। किंतु ऐसे मूर्ख मंत्री नियत करने का भार किस पर है?

चंद्रगुप्त—मैंने तो महामंत्री-मात्र नियत किया था, शेष मंत्री तो आर्य के ही रक्खे हुए हैं।

चाणक्य—प्रथम तो आपने अयोग्य महामंत्री स्थापित किया, फिर उसे इतना अनुचित अधिकार देने की भूल की।

चंद्रगुप्त—भविष्य में ऐसी भूल न होगी।

चाणक्य—(खड्ग फेंककर) अच्छा, मैं इसी समय से यह अधिकार छोड़ता हूँ। आप कृपा करके अन्य महामंत्री नियत कर लीजिए।

चंद्रगुप्त—(खड्ग उठाकर चाणक्य को देते हुए) जब तक मुझे दूसरा महामंत्री न मिले, तब तक आर्य काम चलाते जायँ, क्योंकि एक क्षण में तो उचित पुरुष मिला नहीं जाता।

चाणक्य—(खड्ग फिर से ग्रहण करके) जब इतने दिन मैंने आपका कार्य बिगाड़ा, तब दस-पाँच दिन और बिगाड़ दूँगा। कृपया नवीन महा-मंत्री शीघ्र नियत कीजिएगा।

चंद्रगुप्त—प्रयत्न करूँगा। शीघ्रता का मैं वचन नहीं दे सकता।

चाणक्य—इस साम्राज्य का तब ईश्वर ही रक्षक है।

इस प्रकार वार्ता के पीछे विना आशीर्वाद इत्यादि के आर्य चाणक्य क्रोध से काँपते हुए नीचे उतर गए, तथा रथारोही हो अपनी कुटी में पहुँच-कर साधारण कार्य में प्रवृत्त हुए। इधर सम्राट् अपने सभासदों से इसी विषय पर वार्तालाप करने लगे—

चंद्रगुप्त—वसंतोत्सव तो रुक ही गया, यदि कोई कवि यहाँ हो, तो वसंत का कोई छंद ही सुनाए।

एक कवि—"जो आज्ञा" कहकर छंद पढ़ता है—

फूलि उठीं सरसों दुहुँ कूल, सोई बर बालक-भीर लखानी ;
नागर बाहु, सोई जल पै बिरवान की डार बढ़ी सुखदानी।
बाजन कूजनि पच्छिन की, गति मंद तरंग बहै मद-सानी ;
तालन के प्रतिबिंबन में दरसात बरातन की अगवानी।

चंद्रगुप्त—कविवर! छंद आपने अच्छा पढ़ा। अब अंतरंग सभा की

आवश्यकता है। (मुख्य सभ्य छोड़कर अन्य लोग जाते हैं।) इस विषय में आप सज्जनों की क्या सम्मति है ? क्या आर्य चाणक्य से मेरा व्यवहार अनुचित हुआ ?

एक सभ्य—मैं तो समझता हूँ कि राजा क्या, कोई भी महापुरुष आज्ञा-भंग का दोष सह्य नहीं मान सकता। मैं तो फिर भी कहूँगा कि देव ने उनके परम कठोर वचनों को बड़े धैर्य से सहा।

दूसरा सभ्य—क्षमा माँगकर फिर भी प्रार्थना की जा सकती है कि आर्य ने जिस अनिर्वचनीय योग्यता से इतना भारी साम्राज्य उपार्जित करने में देव की प्रबल सहायता की, उसका यथोचित मान शायद आज न हुआ हो।

तीसरा सभ्य—यह क्या कहते हो ? साम्राज्य तो देव के पौरुष से उपार्जित हुआ है, उसका पूरा यश क्या आर्य चाणक्य को ही मिल सकता है ?

इस भाँति अनेकानेक सभ्यों ने विविध मत प्रकट किए। आर्य चाणक्य अपमान के समय तो बहुत ही प्राबल्य से क्रुद्ध हुए थे, किंतु पीछे से सारा कार्य पहले ही के अनुसार ऐसी शांतता-पूर्वक करते रहे, मानो कुछ हुआ ही न था। साधारण उचित समयों पर चंद्रगुप्त से मिलकर सदैव की भाँति एकांत में बात भी घड़ियों किया करते थे। सारा राजकीय कार्य ऐसी योग्यता से चलता रहा, मानो सम्राट् और महामंत्री में कोई अनुचित घटना हुई ही न हो। केवल अपनी बातों से जो लोग राजभक्ति के प्रतिकूल माने गए, उनके पद टूट गए। बहुतेरे लोग आपस में साश्चर्य बातें करते थे कि आर्य चाणक्य की ऐसी महती सहनशीलता एक अभूतपूर्व घटना थी। जिस हठी व्यक्ति ने केवल शिक्षक की दशा में सम्राट् नवनंद के प्रतिकूल कठोर प्रण सबके आगे कर दिया, उसी ने महामंत्री होकर भी अपने ही शिष्य द्वारा ऐसा अपमान कैसे सह लिया ? वह कोई द्वितीय प्रण क्यों न कर बैठा ? किसी अन्य ने कहा कि एक प्रण के निभाने में जब इतने समय, कष्ट-सहन और प्रबंध की आवश्यकता हुई, तब अपने ही प्रिय शिष्य के प्रतिकूल कोई प्रण कैसे करते ? किसी ने कहा कि सम्राट् ने ही एक छोटी-सी बात पर परम पूज्य गुरु तथा महामंत्री से इतना भारी क्रोध ही क्यों किया ? फिर गुरु भी

ऐसा कि जिसने उन्हें इतना भारी साम्राज्य दिलाया। किसी और ने कहा कि राजों का सहज स्वभाव होता है कि वे किसी का इतना दबाव नहीं सह सकते। इसी प्रकार भाँति-भाँति की बातें प्रजा तथा राजसेवकों में हुआ करती थीं। सबसे बड़ा आश्चर्य सबों को यह था कि इतने बड़े झगड़े और आमने-सामने की कहा-सुनी के पीछे सारा कार्य ऐसे मित्र-भाव से क्योंकर चल रहा है? किसी-किसी को यह भी संदेह होता था कि यह झगड़ा केवल हास्य-पूर्ण अथवा दिखलावा-मात्र न हो। आर्य चाणक्य के विरोधियों की सेवा भंग होने से भी ऐसे ही संदेह किसी-किसी को हुए। कुल मिलाकर सारे लोग संदेह में ही रहे।

समय पर एक बार राजकक्ष में दो-चार सशस्त्र लोग एक दिन पकड़े गए, और जाँच करने पर प्रकट हुआ कि उनमें भी दो पुरुष धननंद के सहायकों में से थे। इस घटना के पीछे धननंद के विषय में चंद्रगुप्त तथा आर्य चाणक्य में मतैक्य हो गया, तथा कुछ सैनिकों को भेजकर महामंत्री ने उन्हें सहायकों-सहित पकड़ बुलाया। अनंतर महादंडनायक के साथ धर्मासन पर विराजकर आपने उनका मामला हाथ में लिया।

चाणक्य—सम्राट् धननंदजी! बड़े दुःख के साथ मुझे आपके ऊपर चार अभियोग लगाने पड़ते हैं, अर्थात् आपने निबंध के प्रतिकूल राजकोष से मणि-मुक्तादि लेने का पाप किया, तलघर में सैनिक छिपाकर सम्राट् के जीवन के प्रतिकूल प्रयत्न किया, विषकन्या के प्रयोग से भी यही युक्ति की, और अंत में उनके शयनागार में सशस्त्र युद्धकर्ता भेजे। इनका आप क्या उत्तर देते हैं?

धननंद—उत्तर पूछने की आवश्यकता क्या है? आपको मेरे कथनों को मानना जब है नहीं, तब जो कुछ करना हो, कर डालिए।

चाणक्य—उसके लिये तो मैंने पहले से ही प्रण कर रक्खा है, तथापि आपके राजच्युत होने से वह एक प्रकार से पूरा हो चुका है। मेरे न्याय पर आपको विश्वास होगा नहीं, इसीलिये मैंने महादंडनायकजी के सम्मुख आपका अभियोग उपस्थित किया है। मैं तो एक प्रकार से वादी-मात्र हूँ।

महादंडनायक—(धननंद से) आपको जो कुछ कहना हो, वह कहने की कृपा करें। धर्मासन पर बैठकर मैं शुद्ध, अमिश्र न्याय करने को शपथ-बद्ध हूँ। जो निबंध के प्रतिकूल प्रचुर मात्रा में मणि-मुक्तादि राजकोष से लेने का अभियोग लगाया गया है, वह तो राजकीय विषय है, मेरे न्याय के अधीन नहीं। वह सामग्री आपके अधिकार से प्राप्त की ही जा चुकी है। जब तक किसी उचित रीति से उसका पाना प्रमाणित न कर सकिए, तब तक यही माना जायगा कि वह संपदा आपने राजकोष से पाई। इसके विषय में क्या आपको कुछ कथनीय है?

धननंद—यह बात नितांत सत्य है। इसके प्रतिकूल मैं क्या कह सकता हूँ?

महादंडनायक—विषकन्या कुछ दिनों से नवनंदों के गोप्य राजकीय विभाग में थी। इसके पुष्ट प्रमाण मिल चुके हैं। माना यही जा सकता है कि उसका प्रयोग आप ही के आशय से हुआ। यदि हमारे सम्राट् इंद्रियजित न होते, तो छत्र-भंग पूर्णतया संभव था।

धननंद—यह मेरे अधीनस्थ विभाग में थी अवश्य, किंतु मेरे द्वारा इसके प्रयुक्त होने का क्या प्रमाण है?

महादंडनायक—जब आप राजधानी से वन को पधारे थे, तब उसका आप ही के अनुयायियों में मिलकर वहाँ जाना प्रमाणित हो चुका है। उसने कारागार में स्वयं भी माना है कि वह आप ही की आज्ञा से प्रयुक्त हुई थी।

धननंद—मैं उसका यह कथन असत्य मानता हूँ।

चाणक्य—अच्छा, जो दो बार मेरे परम प्रिय शिष्य सम्राट् पर वार किए गए, उसका क्या उत्तर है?

धननंद—उसका मैं कोई उत्तर नहीं देता। प्रमाणों पर विचार करके महादंडनायक स्वयं निर्णय करें।

महादंडनायक—मेरे विचार में वे तीनो अभियोग भी प्रमाणित हैं, और छत्र-भंग के प्रयत्न में आप वध-दंड के योग्य हैं।

धननंद—यह तो मैं पहले ही से जानता था।

चाणक्य—मेरे प्रिय शिष्य वृषल ने प्रथम तीन अपराधों के होते हुए भी आपके ऊपर कोई कार्यवाही न की, तथा योगिनीजी के द्वारा आपको सचेत भी किया, किंतु आप अपने नीच कृत्यों से विरत न हुए। फिर भी मैं आपका शत्रु हूँ, इस कारण खड्ग उठाता हूँ। आप भी खड्ग-चर्म लेकर मेरे सामने एक वीर क्षत्रिय की भाँति निकल आइए, जिससे विवश अवस्था में आपके मारने का अपयश मुझे न मिले।

धननंद—क्यों मौत घेरे हुए है ? पैरों से टेढ़े होने के कारण आप कौटिल्य कहलाते ही हैं। निष्कारण एक ब्राह्मण के वध का पातक क्यों लूँ ? मुझे तो मरना है ही। जीकर भी क्या करूँगा ? सारा साम्राज्य खोकर यावज्जीवन में चंद्रगुप्त के वध के प्रयत्न करने से विरत नहीं हो सकता। सम्राट् का एक ऐसा शत्रु वध-दंड के योग्य है ही। जीने की मेरी इच्छा भी नहीं। आप जिस प्रकार चाहिए, मुझे दंड दीजिए। एक ब्राह्मण के वध का दोषी होना मैं अपने अंतकाल में नहीं चाहता। मेरे खड्ग उठाते ही मानो आप मरे रक्खे हुए हैं।

चाणक्य—आजकल मंत्रित्व का कार्य चिरकाल से करने के कारण मैं अब न तो अध्यापक हूँ, न ब्राह्मण, वरन् साम्राज्य के पंडितगण मुझसे आशीर्वाद के साथ नारियल देते हुए मिलते हैं। ब्राह्मण-वध का भय छोड़कर, एक प्राचीन शत्रु से खड्ग-हस्त होकर युद्ध करके ही मरिए; घातकीय शस्त्र से मरने में कौन-सी महत्ता आपके लिये है ?

धननंद—यों ही सही; उठाइए खड्ग।

महादंडनायक—(चाणक्य से) आर्य ! आप यह अनावश्यक जोखिम क्यों लेते हैं ? नियमानुसार कार्य होने दीजिए।

चाणक्य—नहीं आर्य ! मैंने खड्ग-युद्ध सीखा कब के लिये है ? इस युद्ध में मेरे लिये कोई जोखिम नहीं है।

चंद्रगुप्त—(प्रवेश करके) गुरुदेव ! यह आप क्या कर रहे हैं ? हम लोग किस दिन के लिये हैं ? खड्गादि का व्यवहार आपके लिये नहीं है।

चाणक्य—प्रियवर वृषल ! एक दिन मुझे भी युद्ध कर लेने दे।

चंद्रगुप्त—ऐसा नहीं हो सकता । धननंद ने विना जाने आपका आकस्मिक अपमान न-जाने कब किया था, आप इनसे अप्रसन्न अवश्य थे, किंतु वास्तविक शत्रु मैं हूँ, आप नहीं । (धननंद से) सम्राट्-प्रवर ! उठाइए खड्ग-चर्म ; आपके लिये मैं प्रस्तुत हूँ । बेचारे गुरुदेव युद्ध क्या जानें ; इनका कार्य-क्षेत्र प्रबंध है, न कि युद्ध ।

धननंद—अब मैं प्रसन्न हुआ ; एक निर्दोष ब्राह्मण को मारकर मैं क्या करता ! मेरे शत्रु आप अवश्य हैं । आपसे लड़कर मरना भी यशोवर्द्धक है ।

इस प्रकार वार्तालाप के पीछे दोनो सम्राट् खड्ग-युद्ध में प्रवृत्त होते हैं, और चंद्रगुप्त सुगमता-पूर्वक धननंद का वध लड़ाई में करते हैं । अनंतर आर्य चाणक्य चंद्रगुप्त को हृदय से लगाते और बधाई देते हैं ।

चंद्रगुप्त—(चाणक्य के चरणों पर सिर रखते और उनके द्वारा उठाए जाकर हृदय से लगाए जाते हैं ।) गुरुदेव ! उस दिनवाली मिथ्या कलह हुई तो आप ही की आज्ञा से थी, किंतु अब तक मेरा हृदय दग्ध कर रही है । कृपया सबके सामने शुद्ध हृदय से क्षमा प्रदान कर दीजिए ।

चाणक्य—वृषल ! तेरा-सा आज्ञाकारी, प्रबल योद्धा तथा जगद्-विजयी शिष्य पाकर कौन-सा गुरु हर्ष-गद्गद् न रहेगा ? मेरी-तेरी कलह कैसी ? फिर अनुचित बातें तो परम प्राचुर्य से मैंने ही कहीं । मैं आशीर्वाद देता हूँ कि हिमाच्छादित काश्मीर के उच्चाति उच्च शिखरों से कन्याकुमारी तक के सारे नरेशों की मुकुट-मणियों से लाल किए हुए तेरे चरणों से सारी प्रजा आप्यायित रहे, तथा तेरा एकच्छत्र राज्य-युक्त मुकुट देखकर यह ब्राह्मण सदैव प्रसन्न रहे ।

चंद्रगुप्त—(पुनः पद-वंदन करके) गुरुदेव की कृपा से ऐसा ही होता दिखता है ।

महादंडनायक—गुरु-शिष्य की कलह का विवरण एक छोटे-से विषय पर सुनकर सारा पाटलिपुत्र आश्चर्य-चकित था, और आर्य के कोई नवीन प्रण न करने तथा पूर्ववत् महामंत्रित्व चलाने से बहुतेरे बुद्धिमान्

पारखी उस कलह को दिखावा-मात्र समझते थे। स्वयं मेरा भी यही विचार था। बड़े हर्ष का विषय है, आज यह बात एक तथ्य के रूप में भी जनता के सामने आ गई।

चंद्रगुप्त—भला, कहीं यह भी संभव है कि तीन जन्म में मेरी गुरुदेव से कलह हो? (दंडपाशाधिकरण से) आर्य, अब आप धननंदजी का मरणोत्तर-संस्कार धूमधाम से करा दीजिए, तथा इनका सारा सामान योगिनी सुनंदाजी को अर्पित हो। यदि वह उसे स्वीकार न करें, जैसा कि बहुत कुछ संभव है, तो वह राजकोष में सम्मिलित हो; क्यों न गुरुदेव?

चाणक्य—बेटाजी! तुम व्यवहार में बहुत चतुर हो। जो आज्ञा दे रहे हो, वही नितांत उचित है।

दशम परिच्छेद

नागरिकों का वार्तालाप

पाटलिपुत्र का आराम बहुत सुंदर था। वहाँ बहुतेरे लोग सैर करने तथा गोष्ठियाँ बना-बनाकर मन-बहलाव को जाया करते थे। आज कई सज्जनों की एक गोष्ठी उसी आराम में एक भारी छाया-संपन्न वृक्ष के नीचे एकत्र हुई है, जिसमें एक पुराण-वाचक, एक साधारण ब्राह्मण, एक क्षत्रिय, एक वैश्य, एक नापित और एक कर्मकार प्रस्तुत हैं। उपाहार, खेल, सैर आदि के पीछे उनमें बातें भी होने लगीं—

वैश्य—देखो भाइयो! आजकल अपने यहाँ भारत में कैसी बड़ी-बड़ी घटनाएँ होती चली जाती हैं, तथापि सारा समाज ज्यों-का-त्यों चल रहा है; कोई कथनीय परिवर्तन देख ही नहीं पड़ता।

ब्राह्मण—और नहीं तो क्या? पहले तो अपने यहाँ त्रेता-द्वापर से जो रीति नरेशों में "यशसे विजिगीषूणां" (यश के ही लिये विजय की इच्छा करनेवालों) की चल रही थी, उससे जो राज्य एक बार स्थापित हो जाते थे, वे शताब्दियों-पर्यंत चलते थे। इसी से महाजनपद सैकड़ों वर्षों से चलते आए। अनंतर नवनंद-वंश ने इस रीति को अमान्य ठहराकर सारे भारतीय जनपदों को नष्ट कर दिया।

नापित—जनपदों की स्थिति से अनेकानेक शासकों के निजू अधिकारों का तो अच्छा मान था, किंतु छोटे-छोटे राज्यों में देश के बटे रहने से बल-हीनता बनी रहती थी। देखिए न कि लघु शक्तियों में विभक्त सप्तसिंधु तथा सिंधु-प्रांतों को अलिकसुंदर ने चुटकी बजाते हुए पद-दलित कर डाला, किंतु हमारी नवनंद-शक्ति का सामना करने का उसे साहस भी न हुआ।

पुराण-वाचक—यह तो मानना पड़ेगा, किंतु "नरेशाः शूद्रयोनयः" (राजा लोग शूद्रयोनि के हो गए) की जो बात है, वह कैसी रही ?

नापित—इसमें क्या दोष हुआ ? क्या शूद्र भारतीय नहीं हैं ? पहले यहाँ द्राविड़ों के राज्य थे। वे भी उच्च कक्षा के लोग थे ।

कर्मकार—और क्या ? सब-के-सब कुछ नीच न थे। ऐसे विचार पौराणिकों के ही हो सकते हैं।

नापित—फिर आर्यों ने आकर उन्हें पराजित अवश्य कर दिया, किंतु दोनो जातियाँ रहती बराबर भारत ही में रहीं, सो भी प्रेम-पूर्वक। हैं तो शूद्र भी द्राविड़ ही, वरन् उनमें कुछ द्विज भी सम्मिलित हो चुके हैं।

ब्राह्मण—यों तो सैकड़ों शूद्र-कन्याएँ ब्राह्मणों तक को व्याही गईं। स्वयं कृष्ण द्वैपायन व्यास शूद्रा माता के पुत्र थे। "शूद्रयोनयः" कहकर यदि निंदा की जाय, तो वेदों के संपादन को फाड़कर फेंक दीजिए।

पुराण-वाचक—मैंने तो पुराणों में उद्धृत एक वाक्य-मात्र कहा, कुछ किसी की निंदा नहीं की। इतना फिर भी कहना पड़ेगा कि महापद्मनंद एक कुमार्गगामिनी रानी का नापित से उत्पन्न अवैध संतान-मात्र था। वह प्राचीन श्रेष्ठ प्रथाओं का मान क्या करता ? जनपदों का विनाश उसने भारतीय शक्ति बढ़ाने को न करके स्वार्थ-साधन-मात्र के निमित्त किया।

क्षत्रिय—यों तो यह वंश न केवल जनपदों का शत्रु हुआ, वरन् धन-लोभ से इसने पत्थर, पेड़, चमड़ा और गोंद तक पर कर लगाया।

नापित—आप लोग शूद्रों का अपमान किया ही करते हैं, जिससे नवनंदों को सम्राट् तक नहीं मानते, यद्यपि उन्हीं के प्रभाव ने हम सबों को अलिकसुंदर के धावे से बचाया, तथा इसी उत्साही वंश ने प्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनि का मान किया, और ऐसे ही दूसरे मुनि वररुचि कात्यायन का अभी कल तक कर रहा था।

ब्राह्मण—यों तो इन लोगों के समय में विद्वान् ब्राह्मणों का बहुत मान होता था, और सैकड़ों शास्त्रार्थ कराए जाते थे। स्वयं कात्यायन तथा महर्षि पाणिनि तक ने इनके दरबारों में शास्त्रार्थ किए। पाणिनि के

अध्यापक वर्ष मुनि के भी शास्त्रार्थ होते थे, अथच उन (पाणिनि) के ज्येष्ठ और कनिष्ठ भ्राता उपवर्ष तथा पिंगल के भी मान पांडित्य के कारण हुए। पंडितों के मान में वैराज्य तक का विचार नहीं किया जाता था। अराकोशिया (सरस्वती-प्रांत) तक के विद्वान् आते थे ।

पुराण-वाचक—राजों में भाई गुण-दोष सभी होते हैं । क्या सम्राट् उग्रसेन स्वयं डाकुओं के मुखिया न थे ? उधर वर्तमान मौर्य वंश का मौर शब्द ही श्रेष्ठता का द्योतक है। बहुत श्रेष्ठ अभिजात क्षत्रिय हैं। मांधाता तथा मागध राजवंशों से संबद्ध हैं। मौर्य शब्द मोरि से मिलता-जुलता है। मोरि क्षत्रिय अग्निवंशीय हैं। हमारे सम्राट् स्वयं मयूरपोषक नरेश के दौहित्र हैं। मौर्य लोग शाक्य-वंशी माने जाते हैं। मयूर इनका राज चिह्न है। कितनी प्रसन्नता की बात है कि एक शूद्र-वंश को गिराकर यह शुद्ध क्षत्रिय-कुल हमारा नीति-पूर्ण शासक हो गया है ।

नापित—ऐसे ही विचारों से तो कभी भारत में मेल न होगा। हम लोग आपस ही में सदा लड़ा-खपा करेंगे, और विदेशी लोग तुच्छ सेनाएँ रखकर भी हमें पद-दलित कर सकेंगे ।

क्षत्रिय—है इस विचार में भी बहुत कुछ सार।

ब्राह्मण—अच्छा, इतना तो मानना ही पड़ेगा कि उस वंश का मूल पाप-पूर्ण था, तथा हमारे बहुतेरे क्षत्रियों को विवश होकर उन लोगों से संबंध करने पड़े थे ।

क्षत्रिय—अब आप ही सोचिए कि शुद्ध क्षत्रिय-कुलों में न्यूनाधिक कलंक लगा या नहीं ? तब यदि हमारे पुराण-वाचक लोग "नरेशाः शूद्रयोनयः" कहकर इस बात की निंदा करते हैं, तो क्या बेजा है ?

वैश्य—बेजा सोलहो आने है। हमारे शास्त्र क्या राजा, सेनापति आदि की समान रूप से क्षात्रयोनि नहीं मानते ? उस वंश के अपकर्म अवश्य निंद्य हैं, किंतु केवल शूद्रत्व के कारण निंदा अयोग्य है। मैं तो यही समझता हूँ।

क्षत्रिय—है यह भी ठीक। अच्छा, यह तो देखा जाय कि आर्य चाणक्य तथा सम्राट् चंद्रगुप्त ने क्या जादू की-सी छड़ी घुमाकर सारे उत्तरीय भारत में एक राष्ट्र स्थापित कर दिया है। देखिए, जूनागढ़ का अपना राष्ट्रीय पुष्यगुप्त वैश्य वहीं सुदर्शन-झील बनवा रहा है। पलाशिनी-नदी को बाँधकर झील बनने का प्रबंध हो रहा है। खेती की कितनी भारी उन्नति होगी!

नापित—किंतु सोने का लालच इस वंश में बीज-रूप से अभी दिखता है, तथा मूर्ति-पूजन का पूर्व रूप समझ पड़ता है।

ब्राह्मण—विना कोष के दृढ़ हुए कहीं साम्राज्य चलता है? देखिए, इनके प्रबंध से काशी, कोशल, तिरहुत, अंग और मगध की कैसी उन्नति हो रही है!

वैश्य—फिर आर्य चाणक्य ने अभी से चार भागों का प्रबंध अलग-अलग कर दिया है। पहला प्रांत स्वयं पाटलिपुत्र है, और दूसरा तक्षशिला, जिसमें पंजाब, सिंध, काश्मीर और हिंदुकुश परिगणित हैं। तीसरा भाग दक्षिणपथ है, जिसमें विंध्य के दक्षिण का देश लगता है, और चौथा है उज्जयिनी, जिसमें सौराष्ट्र (काठियावाड़), गुजरात और आकर अवंति (मालवा) परिगणित हैं। मौर्यराज्य में अभी से पंजाब, कान्यकुब्ज-देश (युक्तप्रांत), बिहार, मध्य-प्रांत, काठियावाड़ (सौराष्ट्र), मालवा और गुजरात सम्मिलित हैं। वंक्षु-प्रांत (अफ़ग़ानिस्तान) भी बचेगा नहीं।

क्षत्रिय—यह एक बात अनुचित भी है कि राजा यवनी शरीर-रक्षिकाएँ रखते हैं। समझा जाता है कि यहाँ की भाषा न जानने से वे सुगमता-पूर्वक किसी कुचक्र आदि में सम्मिलित न होंगी। ये मूक म्लेच्छ भी कहलाते हैं, क्योंकि देशीय भाषा से अनभिज्ञ होने से बोलते कम हैं।

ब्राह्मण—किंतु देखिए, अभी से मंत्रिपरिषत् में १८ मंत्री नियत किए गए हैं। आर्य चाणक्य का विचार है कि सहाध्यायी (सहपाठी लोग) मंत्रि-पद के विशेषतया योग्य समझने चाहिए। सदा नए-नए व्यक्तियों को अमात्य बनाना चाहिए। अश्व और कपोत गुप्तचरों का भी काम करते हैं। न्याय-विभाग में राजा, न्यायालय, जनपद-संधि, द्रोणमुख, संग्रहण, ग्राम-

संघ (पंचायत) आदि की गणना है। न्यायकर्ता को धर्मस्थ (जज) कहते हैं, धर्मस्थीय कंटकशोधन, प्रदेष्टा आदि धर्मस्थ के नीचे रक्खे गए हैं। कैसे सुंदर प्रबंध हो रहे हैं?

नापित—आप तो राजकीय विभागों को लेकर बैठ गए हैं। बातें ये नवीन अवश्य हैं, किंतु अब तक जान इन्हें सभी गए हैं।

पुराण-वाचक—अच्छा, आजकल कैसा गड़बड़ मचा है कि बहुतेरे सोलह वर्ष की अवस्था के ही पीछे विवाह करने लगे हैं। स्वयं सम्राट् ने भी केवल बाईसवें वर्ष में ऐसा किया।

क्षत्रिय—है न्यूनाधिक अनुचित, किंतु अब चलने लगा है। अब तो लोग धर्म, अर्थ और काम में अर्थ ही को प्रधानता देने लगे हैं। तो भी पुरोहितों का ऐसा मान बढ़ा है कि राजा के निमित्त भी कहा जाता है कि वह शिष्य, पुत्र तथा भृत्य के समान उसके पीछे चले।

पुराण-वाचक—आजकल यहाँ तक सोचा जाता है कि जो पुत्र राजा के साथ प्रेम न करें, उसे वह शत्रुवत् मानें। अपने से विरक्त देखकर इकलौते दुलारे लड़के तक को बंधन में रक्खे, तथा अशिक्षित इकलौतें पुत्र तक को गद्दी न दे। आजकल कुलों तक के सम्मिलित राजा होने लगे हैं। राजा को सदैव कार्य में तत्पर रहकर उसे टालना कभी न चाहिए; ऐसे विचार बढ़ रहे हैं।

क्षत्रिय—अब कहाँ तक नीति का कथन कीजिएगा? देखिए, आजकल हाथी क्या ही बढ़िया-बढ़िया आए हैं।

वैश्य—कलिंग, अंग, रींवां तथा पूर्वीय देशों के हाथी होते ही बढ़िया हैं। इन जंतुओं से राज्य की शोभा है।

ब्राह्मण—इसीलिये तो हाथी मारनेवालों को लोकतंत्र से वध-दंड तक मिलता है।

क्षत्रिय—आजकल वैवाहिक लोगों में छोड़-छुट्टी भी खूब चलने लगी है। सवाधरण सैकड़ा प्रतिमास से अधिक सूद भी नहीं दिलाया जाता। भारतीय साम्राज्य अब इतना बढ़ गया है कि बाहरी शक्तियों का दबाव

अपने ऊपर नहीं पड़ सकता, वरन् अपना ही प्रभाव शायद वाह्य शक्तियों पर पड़े।

ब्राह्मण—देखिए, मामले आगे कैसे निपटते हैं ? अभी तो आर्य कात्यायन जब पलटेंगे, तब कुछ-न-कुछ गड़बड़ अवश्य उठेगा। उधर यवनों की भी स्वाभाविक इच्छा बदला लेने की होगी। उनका भारतीय प्रयत्न हमारे ही सम्राट् के कारण असफल हो गया है। अभी ऐसा दिखता है कि भारत पर ये ही दो संकट उपस्थित हो सकते हैं।

वैश्य—मित्रो ! आज तो आप लोग राजनीति के ही पीछे पड़े हुए हैं। चलिए, कुछ उपवन की सैर ही की जाय।

नापित—यही बात उचित है। राजनीतिक वार्तालाप बहुत हो चुका।

ब्राह्मण—सो ठीक है, किंतु उपवन भी तो आज ही भली भाँति देखा जा चुका है। जंतु-विभाग, जलाशय, जल-जीव, नौका-विहार, जल-प्रपात, पुष्पों के क्षेत्र तथा क्यारियाँ आदि सभी तो देख चुके हैं। देखिए, अपने नगर पाटलिपुत्र की आजकल कैसी उन्नति हो रही है ! पहले व्यास-नदी के पूर्व तक ही राज्य का फैलाव था, अब पश्चिम में पहाड़ों तक फैल जाने से यहाँ दूर-दूर के लोग बहुतायत से आने लगे हैं, जिस से विश्राम-शाला, धर्मशाला, उपाहार-गृह आदि की अच्छी बहुतायत हो रही है।

कर्मकार—सेवकों की आवश्यकता ऐसी बढ़ रही है कि वे ढूँढ़े नहीं मिलते, सवारियों की भी माँग बढ़ी है।

वैश्य—फिर भी अभियोगादि बहुत कम हैं, तथा चोरी मानो होती ही नहीं।

ब्राह्मण—उधर प्रदर्शनियाँ, जादू के काम, खेल-कूद, नाच-रंग, तमाशे आदि इस बहुतायत से हुआ करते हैं कि आठ वार नौ त्यौहार की बात हो रही है। प्रजा का मनोरंजन अच्छा होता है। जो-जो तमाशे राज्य की ओर से होते हैं, उन्हें देखने में वह स्वतंत्र रहती है। किसी प्रकार की अनुचित रोक-टोक नहीं। सम्राट् धननंद ने पिप्पली-कानन का राज्य क्या

छीना, स्वयं अपना साम्राज्य खो दिया। तो भी मौर्य नरेश के बदला लेने-वाले कार्य की कोई निंदा नहीं कर सकता।

क्षत्रिय—अब वार्तालाप बहुत हो चुका, घर चलने का समय है।

पुराण-वाचक—चलो चलें; संध्या-वंदनादि का भी समय आ रहा है।

एकादश परिच्छेद

महर्षि कात्यायन

दो वर्ष का अवकाश लेकर महर्षि कात्यायन ने पाणिनीय अष्टाध्यायी पर कारिका क्या लिखी, इधर सारा साम्राज्य ही पत्ते-सा उलट गया। पहले आप काश्मीर पधारे थे। फिर शनैः-शनैः द्वैपायन व्यास की भाँति देवदारु-वन में समय बिताने के विचार से और भी ऊँचे चढ़ते गए। विषयांतरों में चित्त न जाने पाए, इस विचार से आपने दो ही तीन सेवक साथ रक्खे। कारिका तो इस अवकाश में बहुत महत्त्व-पूर्ण बन गई, किंतु साम्राज्य के एकाध सेवक, जो इन्हें बुलाने भेजे गए थे, खोज न लगा सके। आपका विचार था कि यवन-सेना के वापस चले जाने से देश में कोई गड़बड़ शेष न रहा था। आर्य चाणक्य और शकटार ने जो यत्र-तत्र की शक्तियों में सहयोग उत्पन्न करने के प्रयत्न किए थे, वे एक तो बहुत गुप्त थे; दूसरे, प्राथमिक अवस्था में होने से उनमें कोई ऐसी शक्ति तब तक न थी, जो साम्राज्य के लिये चिंत्य समझी जाती। इन कारणों से अपना दो वर्ष-पर्यंत अन्यत्र रहना आपने नवनंद-वंश के लिये भय-प्रद न समझा था। बात यह हुई कि अलिकसुंदर के आक्रमण से पंजाबी शक्तियों को सहयोग अत्यावश्यक समझ पड़ने लगा, जिससे वहाँ का संगठन बहुत ही शीघ्रता-पूर्वक हो गया, और उचित समय के पूर्व साम्राज्य पर प्रचंड दबाव पड़ गया। पराजय के पीछे धननंद ने गुप्त रूप से इनके पास धावन भेजे, और वे ढूँढ़-खोजकर इनसे मिले। तो भी साम्राज्य चले जाने से प्रकट रूप में तो आप जा न सके, वरन् गुप्तरूपेण इन्हें पलटना पड़ा। पकड़े जाने का भी भय था, क्योंकि आर्य चाणक्य की योग्यता बहुत ही बढ़ी-चढ़ी थी। अतएव आपने श्मश्रु और मुच्छ मुड़ाकर दंडी का रूप

बनाया, और उन्हीं लोगों के समान वस्त्रादि भी धारण कर लिए। सेवकों के भी वैसे ही रूप बनाकर तथा काश्मीर के नवीन सेवक-मात्र साथ रखकर आप तीन-चार दंडियों के झुंड में चले। सब लोग अपना रूप पूर्णतया बदल कर ऐसा पैदल देशाटन करते थे कि जाननेवाला भी कोई इन्हें पहचान न सकता था। किंतु जब तक आप पाटलिपुत्र के निकट पहुँचे, उससे पंद्रह-बीस दिन पहले ही धननंद का निधन हो चुका था। अतएव विना वहाँ ठहरे वंग-देश मँझाते हुए आप सीधे लौहित्य को चले गए, जहां छिपे-छिपे कुछ सहायक एकत्र करके आपने महासेनापति भद्रशाल का स्मरण किया। वह भी पराजय के कारण यत्र-तत्र लुकते-छिपते फिरते थे, और बुलाए जाने से अति शीघ्र महामंत्रीजी की सेवा में उपस्थित हुए। इन्होंने मंत्रीजी के चरणों में सिर रक्खा, और उन्होंने उठाकर हृदय से लगाया। दोनो में वार्तालाप होने लगा—

भद्रशाल—हाय आर्य! यह क्या हो गया? अब क्या होगा?

कात्यायन—हा देव नंद! आपने सारा साम्राज्य-भार मुझी पर छोड़कर पूरा कल्याण माना, किंतु मुझ मूर्ख से आपके साम्राज्य तथा शरीर में से एक की भी रक्षा न हुई। भीर पड़ने पर मेरा आगमन स्वाति-बूंद की भाँति चातकवत् चाहते हुए आपने शरीर त्यागा होगा। हाय, ऐसा घोर दुःख कैसे सहूँ? हा आर्य! मैंने अष्टाध्यायी की कारिका पर ऐसा चित्त लगाया कि साम्राज्य और स्वामी, दोनो खो बैठा। मैं क्या जानता था कि शत्रु तडिद्वेग से ऐसा प्रबल पड़ जायगा। हाय, कहाँ एक व्याकरण-संबंधी ग्रंथ और कहाँ स्वामी का सारा साम्राज्य और शरीर! आर्य! अब क्या हो?

भद्रशाल—आपने तो सारा साम्राज्य-भार महती योग्यता से वहन किया था, और किसी प्रकार की त्रुटि प्रबंध में न आने दी थी। आप क्या जान सकते थे कि साल-डेढ़ सालवाली अप्रस्तुति-मात्र के इतने बुरे फल निकलेंगे? आपने तो मुझ पर सारा प्रबंध-भार डालकर अवकाश ग्रहण किया था, किंतु मेरा सँभाला कुछ भी न सँभला। हाय, सम्राट्

का विशालगुप्त से व्यवहार अनुचित अवश्य हुआ। आप भी समझाते रहे थे, किंतु उनका क्रोध शांत न हो सका। इसी भाँति दो-तीन अन्य सेनापतियों के लिये भी अप्रसन्नता के कारण थे, किंतु यह कौन जानता था कि इन क्षुद्र बातों के ऐसे घोर परिणाम निकल पड़ेंगे ?

कात्यायन—हा आर्य ! अब क्या किया जाय ? कुछ समझ में नहीं आता। कुछ करूँ भी, तो किसके लिये ? स्वामी तो स्वर्गासीन हैं।

भद्रशाल—शत्रुओं से कुछ भी बदला न लेकर ऐसी सुगमता से उन्हें सम्राट् हो जाने देना, सो भी पूर्णतया निर्विघ्नता से, है तो आप के लिये असंभव।

कात्यायन—इसमें क्या संदेह है ? आर्य !

भद्रशाल—आप अभी तक संन्यासी क्यों बने हुए हैं ? क्या महाराजा विशालाक्षजी से इधर अद्य-पर्यंत नहीं मिले हैं ?

कात्यायन—अभी कहाँ मिला हूँ, अभी तो गुप्त भाव से रह रहा हूँ। कोई भी नहीं जानता कि कौन हूँ ? साधारण संन्यासी-मात्र हूँ। जब से काश्मीर से चला हूँ, तब से वास्तविक भिक्षाटन से उदर-पूर्ति हो रही है। साथ के योगी लोग भी इतना तो जानते हैं कि वे छिपे हुए मेरे सेवक हैं, किंतु यह उन्हें भी ज्ञात नहीं कि मैं हूँ कौन ? जो दस-पाँच राज्य के हितू इन दिनों आकर यत्र-तत्र छिपे हैं, केवल वे वास्तविक बात जानते हैं। सोचता यह था कि आपसे मंत्रणा करके अपनी भावी शक्ति का गुप्त पता लगाने के पीछे महाराजा से बात करूँ।

भद्रशाल—तब मुझे क्या आज्ञा है ? आर्य !

कात्यायन—अब तो हम लोग महामंत्री, महाबलाध्यक्षादि न होकर मार्ग के भिखारी-मात्र हैं। युक्ति-पूर्वक चलने से कार्य बहुत कुछ हो सकता है, किंतु थोड़ी भी अनुचित शीघ्रता से हम दोनो स्वयं बंदी हो सकते हैं। इसलिये संन्यासी बना हुआ हूँ। अब कहिए पराजय के पीछे इतने दिन आप क्या करते रहे ?

भद्रशाल—जब तक देव का शरीर प्रस्तुत था, तब तक गुप्त रूप से

उन्हीं की सहायता में रत रहा। विषकन्या, संशस्त्र वीरों के गुप्त प्रयोगादि द्वारा देव ने उन पर दो-तीन वार किए, किंतु वे विफल हो गए। तब चंद्रगुप्त ने राजपुत्री सुनंदा द्वारा देव को भविष्य के लिये सचेत कराया। निबंध यह था कि या तो सम्राट् से शत्रुता छोड़कर कहीं भी राज्य में रहें, अथवा बाहर चले जायँ, किंतु ऐसी दशा में संपत्ति का बृहदंश राजकोष में जाने की बात थी। देव ने अपनी संपत्ति न छोड़कर वन में ही रहना पसंद किया। मैंने तथा कुछ इतर मित्रों ने बहुत समझाया कि धन-लोभ छोड़कर बाहर जाना हो जाय, किंतु एक तो उन्हें प्रिय संपत्ति छोड़ते न बनी, दूसरे बाहर से वार करने के दाँव न लग सकते थे। उन्हें अंत-पर्यंत छिपकर प्रहार की सफल आशा रही, जिससे अंततोगत्वा शरीरांत ही हो गया। यदि आर्य वहाँ उपस्थित होते, तो वह संभवतः ऐसा हठ न करते, इतरों का समुचित प्रभाव उन पर न पड़ता।

कात्यायन—यह बात थी; हाय! बड़ी भूल हुई, और ऐसा अमूल्य जीवन असमय ही समाप्त हो गया। शीतल समीर में चतुर्दिक् नृत्य करता हुआ एक सौरभित पुष्प हाय! असमय में ही सूख गया। यदि मैं कहता, तो अवश्य ही मान जाते। मेरी बुद्धि पर न-जाने क्या पत्थर पड़े कि कारिका के निर्विघ्न लिखने को प्रायः एकाएकी उच्च शिखरों पर देवदारु-वनों में चला गया। ग्रंथ तो अच्छा बन गया, और स्वास्थ्य भी सुधरा, किंतु हा! दोनो बातें वृथा हो गईं। अच्छा, फिर आपने क्या किया?

भद्रशाल—फिर मुख्य-मुख्य सहायकों के साथ गुप्त भाव से हम सब भागे। शत्रुओं ने आधी-पर्धी सेना अपने अधीन कर ली थी, और शेष सैनिक पृथक् कर दिए गए थे। अलग किए हुए योद्धा हमारे शुद्ध सहायक थे। चमूपों, सेनापतियों आदि से निहित संबंध स्थापित रखकर मैंने सबको उनके स्थानों पर जाने दिया। आर्य के पधारने की आशा में हम सब बैठे थे। अब यदि चाहें, तो पचास सहस्र तक सैनिक एकत्र हो सकते हैं। जो आज्ञा हो, वही किया जाय।

कात्यायन—तब फिर विना यह वेष त्यागे विशालाक्षजी से मिलने का प्रबंध हो। इनसे बढ़कर नवनंद-वंश का हितू अब और कौन है ?

भद्रशाल—ऐसा तो है ही आर्य !

अनंतर एक विश्वास-पात्र कर्मचारी द्वारा महाराजा विशालाक्ष को गुप्त सूचना दी गई, और वह अति शीघ्र महामंत्रीजी से मिलने को, दर्शनों के बहाने, इनके स्थान पर पधारे। इतर लोगों को युक्ति-पूर्वक टालकर महामंत्रीजी लौहित्य-नरेश से एकांत में वार्तालाप करने लगे—

विशालाक्ष—हा महामंत्रीजी ! आपने दो वर्षों का अवकाश ग्रहण क्या किया, सारा साम्राज्य ही लुप्त हो गया। अब क्या हो ? मेरा हृदय तो प्रिय कन्या की मृत्यु और जामाता धननंद के विनाश से दग्ध हो रहा है। कुछ तो होना ही चाहिए।

कात्यायन—हाय महाराज ! कौन जानता था कि साम्राज्य की स्थिति ऐसी डाँवाडोल है ? आपके कथन अक्षरशः सत्य हैं। अब आप ही आज्ञा कीजिए कि क्या किया जाय ? इस प्रयत्न में व्यय की आवश्यकता बहुतायत से है ही। इसका भी प्रबंध होना है।

विशालाक्ष—इसी दिन के लिये तो आपने आर्य! साम्राज्य का भारी कोष लौहित्य के एक दुर्ग में रख छोड़ा था। उसकी चाबियाँ आप ही के पास थीं। उसके अतिरिक्त जो धन इस राज्य में है, वह सब भी अपना ही समझिये। इसकी चिंता आप क्या करते हैं ? मैं तन-मन-धन से जामाता के शत्रुओं से बदला लेने को सन्नद्ध हूँ। केवल पौत्री कमलाक्ष के अतिरिक्त मेरे और बैठा ही कौन है ? युक्तियाँ चलाने में त्रुटि न होने पाए।

भद्रशाल—प्रायः पच्चीस सहस्र सैनिक महाराज के हैं ही। उधर प्रायः पंच अयुत योद्धा इस गिरी दशा में भी अपने लिये प्राण-विसर्जन को सन्नद्ध होंगे। नए सैनिक भी भर्ती करने से एक लक्ष योद्धाओं की सेना अपने पास सुगमता-पूर्वक हो सकती है।

कात्यायन—पहले यह निश्चय होना चाहिए कि युद्ध किसके आधार पर उठाया जाय ? निराधार सेन-संग्रह संभव न होगा।

विशालाक्ष—ऐसा तो है ही; सेना लड़ेगी किसके लिये ?

कात्यायन—अपने यहाँ तो उत्तराधिकारिणी केवल राजपुत्री सुनंदा है, किंतु वह योगिनी हो चुकी है।

भद्रशाल—आर्य ! उन्हें बुलाइए, समझाने-बुझाने से सन्नद्ध हो जायँगी। नवनंद-वंश को डुबो थोड़े ही देंगी ?

विशालाक्ष—यही मैं भी समझता हूँ आर्य ! उन्हें बुलाने को शीघ्र गुप्तचर भेजे जायँ। तब तक आप यह संन्यासी-वेश छोड़ न दीजिए ? यह अब अनावश्यक है।

कात्यायन—यदि गुप्त रूप में न आता, तो संभव था कि मार्ग ही में बंदी हो जाता। अपनी शक्ति का परिमाण जानकर ही आपसे मिलना ठीक था।

विशालाक्ष—इसकी क्या आवश्यकता थी ? लौहित्य में इतने दिन गुप्त रहने का अनावश्यक कष्ट न उठाना था।

कात्यायन—जो हुआ, महाराज, सो हो ही चुका। अब कल ही अपना साधारण रूप धारण करके कुछ-कुछ प्रकट हो जाऊँगा।

विशालाक्ष—बड़ी कृपा !

इस भाँति वार्तालाप के पीछे यह गुप्त गोष्ठी भंग हुई, तथा महामंत्रीजी महाराज के प्रासाद में विराजने लगे। चतुर चरों के प्रयत्नों से योगिनी सुनंदादेवी यथासमय मातामह के राज्य में पहुँचकर एक आराम में ठहरीं, क्योंकि इन्होंने राजप्रासाद में रहना ठीक न समझा। अनंतर नानाजी तथा महर्षि कात्यायन के पास बैठकर इन्होंने वार्तालाप प्रारंभ किया—

कात्यायन—बेटी सुनंदा ! तुझे इन वस्त्रों में देखकर मेरा हृदय विदीर्ण हो रहा है। इस विषय में तुझे समझाने का मुझे अद्यापि अवसर न मिला था। साम्राज्य की जो दुर्दशा हो चुकी है, वह तुझसे बेटी ! छिपी नहीं है। स्वयं सम्राट् असमय में स्वर्गवासी हो चुके हैं। अब इस साम्राज्य का आधार बेटी ! सिवा तेरे और कोई नहीं। यदि तू भी अपना योगिनी वेष पकड़े रहेगी, तो हम लोग किसका सहारा

लेकर प्रयत्न करेंगे ? देख, बेटी ! अपने नानाजी की भी आज्ञा सुन ले। यदि कोई अन्य आधार होता, तो मैं तेरे धार्मिक तप में विघ्न डालने पर कटिबद्ध न होता, किंतु अब ऐसा करने में विवश हूँ। मैं भी काश्मीर से यहाँ आने में संन्यासी बना हुआ था, किंतु तेरे नानाजी की आज्ञा मानकर अपने वस्त्राभूषण धारण कर चुका हूँ।

सुनंदा—आप तो आर्य ! कोई संन्यासी न थे, वरन् केवल बंदी होने से बचने को, दिखलाने-भर के लिये, बन गए थे। इधर मैं छ साल से वास्तव में योगिनी हूँ। पितृचरण ने भी यह रूप छोड़ने की आज्ञा दी थी, किंतु मेरा मन न माना। आप ही विचार कर लीजिए, काकाजी ! इतने दिनों के पीछे एकाकी कैसे, क्या करूँ ?

विशालाक्ष—बेटी मेरी ! तू तो समय को नहीं देखती। उस काल तेरे पिताजी प्रस्तुत थे, जिससे सारा भार उन पर था। अब उनके पीछे वह भार तुझी पर आता है। सिवा तेरे नवनंद-वंश में अब बैठा ही कौन है ? यह तो हो नहीं सकता कि एक बाहरी अनधिकारी वंश सम्राट् हो जाय, और हम लोग हाथ पर हाथ रक्खे बैठे रहें। सिवा तेरे अब किसको अगुआ करके उद्योग किया जाय ?

सुनंदा—पूज्य नानाजी महोदय ! कथन आपका है योग्य, किंतु जब मैंने एक बृहत्काल से किसी से शत्रुता न करने का व्रत ले रक्खा है, तब एकाकी राजनीतिक दाँव-पेंच में कैसे भाग लेने लगूँ ?

कात्यायन—तुझे बेटी ! क्या करना होगा ? शत्रुता तो तेरे नानाजी और हम लोग उठा रहे हैं, तेरा केवल नाम रहेगा। तुझे कोई पाप न लगेगा। अपने राजवंश को देख कि ८० वर्ष से साम्राज्य-भोक्ता कुटुंब को एक अधिकार-शून्य बालक राज्यच्युत किए देता है। फिर तेरे पूज्य पिता ने साम्राज्य का सारा भाग मुझी पर छोड़कर निश्चिंतता-पूर्वक काल-यापन किया। मैंने किसी प्रकार का भय न समझकर दो वर्ष के लिये व्याकरण में मन लगाने की भूल कर दी, जिससे बेटी, तेरा प्राचीन वंश अराजक हुआ जाता है। धर्मार्थ, काम, मोक्षादि में पंडित लोग तक अर्थ ही को प्रधान

मानते हैं। तेरे शत्रु स्वयं चाणक्य तक का यही कथन है। जब तेरे गृह-त्याग से कुटुंब-भर का प्रभाव सदैव को जाता है, तब तुझे हठ न करना चाहिए। मैंने तुझे गोदी में खिलाया है। मेरे उपदेशों को अमान्य समझना तेरे लिये योग्य नहीं। फिर मेरे ऊपर कितना भारी बोझ पड़ता है कि मेरी ही एक भूल से स्वामी के वंश से ही साम्राज्य जा रहा है। मेरा बुढ़ापा तुझे न बिगाड़ना चाहिए बेटी !

सुनंदा—काकाजी ! मैं आपके मानसिक दुःखों को भली भाँति समझती हूँ। यह मुझे पूर्णतया ज्ञात है कि आप पूज्य पिताजी को पुत्र के समान मानते थे, और वह भी आपकी सम्मति के प्रतिकूल कभी न जाते थे, तथा पितृव्य के समान मानते थे। मैं नहीं चाहती कि आपको किसी प्रकार का मानसिक कष्ट हो। फिर भी अपने धार्मिक कर्तव्यों का छोड़ना मेरे लिये मरण से भी दुःसह है। मैं प्रार्थना करूँगी कि मेरी मूर्खता के कारण आप अपनी राजभक्ति से निवृत्त न हूजिए। इधर मेरा धर्म भी न छुड़ाइए, वरन् मेरे स्थान पर पूज्य पिताजी के भतीजे सबलनंद को राजा बना लीजिए। मेरे पीछे वही राज्याधिकारी हैं, और जब मैं संसार के बंधनों को छोड़कर अपने ऋण-धन से निवृत्त होती हूँ, तब उन्हीं का अधिकार भी है। अवस्था भी उनकी प्रायः २४ वर्ष की है। अब मुझे क्षमा कीजिए। वृद्धों के वचन अमान्य समझने का पातक लेना मैं नहीं चाहती, किंतु संसार-हित-साधन का अपना व्रत छोड़ना बहुत अनुचित मानती हूँ। आप स्वयं सोच लीजिए। इस प्रस्ताव से आपका उत्साह नहीं गिरता, और मेरा धर्म भी बचा जाता है। यदि धृष्टता न समझी जाय, तो एक प्रस्ताव यह भी करूँगी कि पूज्य नानाजी अपनी पौत्री कमलाक्षी का विवाह भी उन्हीं के साथ कर दें, जिससे मेरे साफल्य में इन्हें जितना चोप होता, उतना ही उसके संबंध में भी हो सकेगा।

कात्यायन—महाराजाजी ! आपकी अब क्या सम्मति है ?

विशालाक्ष—चाहता तो मैं इन्हीं का साम्राज्य था, किंतु जब यह किसी भाँति संन्यास नहीं छोड़ सकतीं, और इनका कथन भी बहुत अनुचित

नहीं है, तब इनके पीछे सबलनंद ही उत्तराधिकारी हैं। विवाह का विषय दूसरा है। यदि उनका चाव पूर्णता से देखा जायगा, साफल्य की आशा होगी, और बेटी कमलाक्षी की अनुरक्ति देख पड़ेगी, तो मुझे भी इसमें आपत्ति न होगी।

अब नानाजी तथा महर्षि कात्यायन को भक्ति-भाव से प्रणाम करके तथा योगिनीपन के कारण आशीर्वाद भी देकर सुनंदादेवी वहाँ से विदा होकर, अपने धार्मिक कृत्यों में लगकर लोक-विचरण करने लगीं। इन लोगों ने यह सारा विषय गोप्य रखने का उनसे, चलने के पूर्व, वचन ले लिया था। उनकी नाहीं से इन दोनो को निराशा तो बहुत हुई, किंतु सबलनंद के विषय में विचार बढ़ने से चित्त में कुछ समाधान भी आया।

द्वादश परिच्छेद

सबलनंद

सुनंदादेवी से निराशा-जनक वार्तालाप के पीछे आर्य कात्यायन और महाराजा विशालाक्ष ने महासेनापति भद्रशाल का भी स्मरण करके आपस में सभी दृष्टिकोणों से विचार किया ' सबलनंद की पदवी तो उच्च थी नहीं, किंतु सुनंदा के पीछे गत सम्राट् के एकमात्र उत्तराधिकारी होने से वह दृढ़ता-पूर्वक विचारणीय थे ही। अवस्था उनकी चौबीस साल की थी, जिससे आशा की जा सकती थी कि थोड़े-बहुत शिक्षण से वह उन्नति कर जायँगे, क्योंकि उच्च वंश में उत्पन्न होने का तथा परमोच्च समाज में भी सम्मिलित रहने से उच्च कक्षा में चल भली भाँति सकते थे, केवल रण-कौशल की कुछ शिक्षा-मात्र उनके लिये आवश्यक थी। तीनो व्यक्तियों ने इस विषय पर भली भाँति कई दिनों तक विचार-विनिमय करके दो-तीन चतुर चरों को सेवा में भेजकर उन्हें सादर आहूत किया। इन महापुरुषों के आह्वान का निरादर करना उनके लिये असंभव था। अतएव गुप्त भाव से अति शीघ्र वह इनकी सेवा में लौहित्य पहुँचे। महाराजा ने उनका मान पूर्णता के साथ किया, और दो-तीन दिनों तक साधारण आतिथ्य तया मान-पूर्वक कथनोपकथन के पीछे वे तीन महापुरुष उनके साथ बैठकर राजकीय विषयों पर वार्तालाप करने लगे—

कात्यायन—कुमार महोदय ! आप रहते तो बहुत दिनों से अपने बंगीय मंडल में हैं, किंतु जानते ही होंगे कि आपके नवनंद-साम्राज्य की इन दिनों कैसी शोचनीय दशा हो गई है।

सबलनंद—आर्य ! यह तो प्रत्यक्ष ही है। मारे शोक और पश्चात्ताप के हम लोगों को मुँह उठाकर समाज में सम्मिलित होने में भी लज्जा

लगती है। क्या कहूँ, न-जाने क्या-से-क्या हो गया! कभी स्वप्न में भी ऐसा भय न था। कुछ कहते-सुनते नहीं बनता।

कात्यायन—यह तो बेटा! समझते ही होगे कि सारे वंश की महत्ता साम्राज्य से ही थी।

सबलनंद—आर्य! क्या यह भी बतलाने की आवश्यकता है?

कात्यायन—यह भी कुमारजी! आप पर भली भाँति विदित होगा कि हम तीनो साम्राज्य के परम दृढ़ तथा विश्वासी सहायकों में हैं! महाराजा तो गत सम्राज्ञी महोदया के पिता ही हैं, तथा मैं महामंत्री कहलाता था, और भद्रशालजी महासेनापति।

सबलनंद—आर्य की सेवा में भी मैं यदा-कदा उपस्थित हुआ हूँ। इतना तो भली भाँति जानता हूँ कि देव आपके ऊपर कितना भारी विश्वास रखते थे? आप तो आर्य! मानो सम्राट् ही थे। विश्वास का क्या कहना? वह सभी भाँति अथाह था। महाबलाधिकृत महोदय ने तो जी तोड़कर सम्राट् के लिये युद्ध ही किया था। ईश्वरेच्छा से कार्य सफल न हो सका। पूरा साम्राज्य भली भाँति जानता है कि आर्य की आकस्मिक अनुपस्थिति के कारण सारा काम बिगड़ गया, नहीं तो मौर्यों में क्या शक्ति थी कि अपने दृढ़ साम्राज्य को ऐसी सुगमतापूर्वक स्ववश कर लेते। मैंने तो लोकतंत्र न्यूनाधिक आंतरिक दृष्टि से भी देखा था; जो लोग कुछ भी नहीं जानते थे, वे भी सब-के-सब ऐसे विचार प्रकट कर रहे हैं। जन-रव एक स्वर से यही भाव निश्चित मानता है।

कात्यायन—कुमार! हमारे राजकीय विषयों के संबंध में आपका ऐसा पूर्ण ज्ञान जानकर हम लोग बहुत हर्षित हैं। क्या कहें बेटाजी! सम्राट् के असमय स्वर्गवास ने हम सबों के मुँह काले कर दिए हैं। फिर भी जो हो गया, उसी को लिए रोते रहना मंत्रिमंडल तथा राजकीय सहायकों का काम नहीं। हम लोग तन-मन-धन से बदला लेने को कटिबद्ध हो रहे हैं।

सबलनंद—ऐसे विचार तो आपको शोभा ही देते हैं। मुझे यदि

कोई आज्ञा हो, तो मैं उसके बाहर न हूँगा। आशा है, राजपुत्री बहन सुनंदाजी अपने योगिनीपन की मूर्खता छोड़कर इस प्रारंभ में अभिनेत्री बन चुकी होंगी।

विशालाक्ष—यही तो नही हो सका। हम लोग बहुत समझाते रहे, किंतु उन्होंने अपना धार्मिक वेष न छोड़ा। उनके पीछे बेटे, अब तुम्हीं इस साम्राज्य के उत्तराधिकारी हो। आशा है, पूर्ण सन्नद्धता के साथ कटिबद्ध होगे।

सबलनंद—पूज्य नानाजी! मैंने तो इस साम्राज्य में अपने लिये ऐसे उच्च पद का कभी स्वप्न भी न देखा था। मेरा विचार आप महानुभावों के आज्ञानुसार उचित उत्तराधिकारी को सहायता देने तक सीमित था। बड़े दुःख तथा आश्चर्य की बात है कि राजपुत्रीजी अपना कर्तव्य नहीं समझतीं, और मेरे लिये ऐसी अनहोनी-सी बात सोची जा रही है। मैं तो इतने ऊँचे आरंभों पर निर्णय करने का अब तक अभ्यासी नहीं रहा हूँ, अतएव मेरी समझ में आप ही महानुभावों को उचित आज्ञा देनी चाहिए। मुझे दिखता ऐसा है कि एक बार जब साम्राज्य जा ही चुका है, तब उसे फिर से जीतना सुगम कार्य नहीं। यदि कोई अन्य उचित उत्तराधिकारी होता, तो उसकी सहायता में अपने कर्तव्य-पालन से तिल-मात्र पीछे न हटता, किंतु अपने ही लिये ऐसा गुरु भार मुझे कठिन-सा दिखता है। क्या आप महाशय इसे सुकर मानते हैं?

कात्यायन—बेटाजी! हम तीनो ने एकाएकी इतना बड़ा बोझ आपके ऊपर डालने का प्रस्ताव कर दिया है कि आपका न्यूनाधिक विचलित होना स्वाभाविक है। फिर भी यदि हम तीनो इसे कष्ट-साध्य, किंतु फिर भी साध्य न मानते, तो अपना ही सर्वस्व हवन करके इसके लिये सन्नद्ध क्यों होते, तथा आपको इसका नेतृत्व ग्रहण करने के लिये प्रोत्साहित क्यों करते?

सबलनंद—(भद्रशाल से) महासेनापति महोदय! आप भी कुछ कहिए। है आप तीनो महानुभावों का ऐकमत्य, तथापि सुनना मैं आपके वचन भी चाहता हूँ। क्षमा कीजिएगा।

भद्रशाल—युद्ध हमारे सामने दिखता है, और यह मेरा विभाग ही है। ऐसी दशा में मुझसे भी सम्मति लेना स्वभाविक है। हम लोग अपना पक्ष यदि असाध्य मानते, तो इतना बड़ा आरंभ ही क्यों उठाते ? युद्धों का फल प्रायः पूर्णतया निश्चित तो होता नहीं, तथापि आशा ऐसी है कि हम लोग समता के साथ संग्राम चला सकेंगे। आप निर्भय होकर हमारा नेतृत्व स्वीकार कीजिए।

सबलनंद—मैं तो अपने को आप सज्जनों का अनुगामी-मात्र मानता आया हूँ। एकाकी इतने महानुभावों का नेता होना मेरे लिये बड़े साहस का काम होगा। मैं अपनी सेवा आपको अर्पित अवश्य करता हूँ। इसमें मुझे अणु-मात्र संकोच नहीं, किंतु इतने बड़े महात्माओं तथा वयो-वृद्धों का नेता मैं क्या हूँगा ? कार्य अपना आगे अवश्य बढ़ाइए। मैं पूर्णतया सन्नद्ध भी हूँ, केवल विजय के पूर्व मुझे नेता आदि न कहिएगा।

विशालाक्ष—हे बेटाजी ! तुम्हारे कथन में भी बहुत कुछ सार, किंतु विना साम्राज्य का कोई उत्तराधिकारी खड़े हुए प्रयत्न चल कैसे सकता है ? बड़े हर्ष की बात है कि आप यह भार स्वीकार करते हैं।

सबलनंद—बड़ी कृपा ! अब यदि मैं भविष्य में आप महानुभावों की आशाओं का सार पूछूँ, तो शायद आप मुझे भीरु अथवा अनुचित जिज्ञासु न समझेंगे। केवल जानने के लिये पूछता हूँ, कोई अधिकार का प्रयोग अथवा भय की बात नहीं।

कात्यायन—कुमारजी ! कथन आपका बहुत उचित है। अच्छा, यह तो प्रकट है कि मौर्यों ने पदातियों, रथों, हयसादी तथा मैगलों की उतनी ही सेना खड़ी की है, जितनी अपनी थी। हमारे पास अभी एक लक्ष पदाति हैं, तथा इसी भाँति दल के इतर अंग। बहुत करके अभी तक अपनी सेना मौर्योंवाली से आधी है। इतनी ही सेना से भी हम लोग बंग में बहुत कुछ कर सकते हैं। वहाँ मौर्य-बल थोड़ा है, तथा आकस्मिक आक्रमण से हम लोग उस प्रांत पर शीघ्र ही अधिकृत हो सकते हैं। अनंतर उस जल और वन-पूर्ण प्रांत से एक लक्ष सेना को

निकाल देना मौर्य-शक्ति के बाहर की बात होगी। बंग में आपका कुछ दबाव है, और थोड़ा-बहुत उसका ज्ञान भी। तथापि केवल बंग और लौहित्य से हम कुमार को संसार में सम्राट् नहीं कहलवा सकते। हम तीनो का विचार है कि साम्राज्य का जो धन यहाँ के एक दुर्ग में सुरक्षित है, उससे तथा लौहित्य की सहायता से इस अपनी सेना को कुछ और भी बढ़ा सकेंगे। बंग-प्रांत पा जाने से अपना कोष और बल, दोनो बढ़ेंगे। इसके अतिरिक्त नयपाल, कलिंग और जांगल देश (रीवां) को भी हम अपने अनुकूल कर लेने की आशा रखते हैं। इन प्रदेशों की सहायता से हमारी सेना की वृद्धि मौर्य-दल के समान हो जायगी, तथा आकस्मिक आक्रमण करने और अपनी सेना के लिये बचाव के अच्छे स्थान मिल सकेंगे। ऐसी दशा में जब विपक्षियों की शक्ति समान होगी, और उनको कुछ दल पाश्चात्य प्रांतों में लगाए रखना ही पड़ेगा, तब प्राचीन हितेच्छुओं की सहायता से अपने विजय की आशा-लता हरी-भरी हो सकेगी। अभी तो कुमारजी! हम लोगों के ऐसे विचार हैं।

विशालाक्ष—हमारा तथा महासेनापति महोदय का भी ऐसा ही भाव है।

सबलनंद—बात तो देखने में असाध्य नहीं दिखती। तब उठाइए कार-बार। हाँ, एक बात कहनी है कि शस्त्रास्त्र-प्रहार की शिक्षा तो मुझे न्यूनाधिक मिल चुकी है, किंतु रण-कौशल का यथावत् बोध नहीं है।

कात्यायन—बड़ी प्रसन्नता है कि आप सारा हाल पूर्णता के साथ कह देते हैं। मंत्रियों से कोई बात छिपाने में काम बिगड़ने लगता है।

सबलनंद—यथासाध्य आर्य से भी कोई बात छिपाया न करूँगा। यदि कभी कोई भूल कर जाऊँ, तो तुरंत शिक्षा अवश्य मिल जाया करे। अभी मुझमें अनुभव की न्यूनता है ही।

भद्रशाल—जब स्वामी होकर आप ऐसी नम्रता से काम चलाएँगे, तब विजय की आशा भी बलवती होगी। (कात्यायन से) तब तक आर्य! आगामी कार्यवाही के संबंध में आज्ञा देने क्यों न लगिए?

विशालाक्ष—यही बात है आर्य !

कात्यायन—मैं तो समझता हूँ, अभी नवनंद-बल-संग्रह. वरन् हमारे प्रयत्नों की बात ही अत्यंत गुप्त रहनी चाहिए। बल-संग्रह गुप्तचरों, चाटों, भटों आदि के द्वारा अपने सहायकों तथा सैनिकों को एकत्र कर-करके होने लगे, किंतु रहे सारा मामला यहाँ की जनता से गुप्त। ऐसा हो सकना है कुछ कठिन, किंतु यथासाध्य उचित यही है।

विशालाक्ष—कुछ काठिन्य तो अनिवार्य है, किंतु अपना देश पहाड़ी भी है, जिससे चार-छ ऐसे स्थान सोचे जा सकते हैं, जहाँ पच्चीस-तीस सहस्र सैनिक रक्खे जाकर भी सारे राज्य से गुप्त रह सकते हैं। उधर का साधारण यातायात-मात्र सुगमता-पूर्वक बंद कर दिया जा सकता है। कोई बाहरी लोग वहाँ न जा सकेंगे, जिससे मौर्यों को अपनी कार्यवाही का पता न लगेगा।

भद्रशाल—तब तो बहुत ही अच्छी बात होगी। यथासाध्य कोई यह भी न जान सके कि आर्य कात्यायन कौन हैं ? मैं भी यों ही गुप्त रहूँगा। कुमार महाराज के अतिथि-मात्र समझे जायँगे, क्योंकि इन्हें इधर के लोग जानते होंगे।

विशालाक्ष—ऐसा सुगमता-पूर्वक हो सकता है।

कात्यायन—एक ओर तो सेन-संधान तथा शिक्षण होने लगें, और दूसरी ओर आर्य भद्रशाल कुमार को रण-कौशल की शिक्षा भी देने लगें। है न ठीक विचार ?

सबलनंद—बातें तो आपकी आर्य ! बहुत योग्य जँचती हैं।

विशालाक्ष—तब फिर इसी भाँति कार्य आगे बढ़ाया जाय। यदि ईश्वर ने चाहा, तो दो-तीन वर्षों में अपना साम्राज्य फिर से प्राप्त हो जायगा।

कात्यायन—एवमस्तु।

इस प्रकार गुप्त गोष्ठी समाप्त होने पर कार्यवाही सुचारु-रूपेण

थे। एक दिन आर्य कात्यायन तथा महाराजा विशालाक्ष एकांत में यों विचार-विनिमय करने लगे—

विशालाक्ष—आर्य! लड़का तो यह बहुत ही अच्छा दिखता है। वार्तालाप में आशा से अधिक प्रवीण है। नम्रता, योग्यता, कार्य-कुशलता आदि कम नहीं है। साधारण विद्वत्ता भी अच्छी है। खड्गादि का प्रयोग भी अच्छा कर सकता है। केवल रण-कौशल में कमी थी, जिसके लिये भी विशाल प्रयत्न, पूर्ण उत्साह के साथ, करने लगा है।

कात्यायन—वास्तव में महाराज! हम लोगों का बड़ा सौभाग्य है कि ऐसा अच्छा साम्राज्य का उत्तराधिकारी विना प्रयास मिल गया। मैं समझता हूँ, आपकी प्रिय पौत्री के निमित्त इससे अच्छा वर और कौन मिलेगा?

विशालाक्ष—यही तो मैं भी समझता हूँ आर्य! फिर भी इतना संकोच लगता है कि बालक को अपने यहाँ बुलाकर तथा अपने ही प्रबंध में रखकर यदि विवाह का भी विषय छेड़ूँ, तो कुछ स्वार्थ-परता समझ पड़ेगी, क्योंकि जब स्थिति के अनुसार वह नाहीं कर सकता नहीं, तब एक प्रकार से उसे विवश करना समझा जा सकेगा।

कात्यायन—है तो यह विचार भी बहुत योग्य। कन्या आपकी बहुत सुंदरी है ही। मैं तो उसे देखकर बहुत प्रसन्न हुआ था। ऐसा डौल डालिए कि दोनो एक दूसरे को प्रायः देखा करें, तथा साथ-ही-साथ खेल-कूद, पठन-पाठन आदि के प्रबंध रहें। कन्या अभी उन्नीसवें वर्ष में है। दोनो आप-से-आप अति शीघ्र ही एक दूसरे से अनुरक्त हो जायँगे। तब विवाह स्वीकार करने में प्रार्थना न होकर आपकी कृपा ही दिखेगी।

विशालाक्ष—सम्मति आर्य की बहुत ही योग्य है। तब फिर यों ही मामला चलाया जाय। एकआध समवयस की सखी बेटी के साथ रहा ही करेगी।

कात्यायन—यही तो बात है।

अब कमलाक्षी और सबलनंद यदा-कदा एक दूसरे से मिलने

लगे। शिक्षा, खेल-कूद, मृगयादि में प्रायः साथ होने लगा, और संयनप्रकारेण उनकी आपसी प्रीति बढ़ने लगी। कमलाक्षीदेवी के सौंदर्य तथा सद्गुणों से नंद बहुत प्रसन्न था, तथा इनके गुणों,—विशेषतया शस्त्रास्त्र-प्रयोग की पटुता—से वह भी बहुत प्रसन्न थी। धीरे-धीरे जब इनमें एक दूसरे से अभि-रुचि बहुत बढ़ गई, तब एक दिन एकांत में यों वार्तालाप हुआ—

सबलनंद—देवीजी ! आपके पूज्य पितामह का अतिथि होकर मैं यहाँ रह रहा हूँ, अतएव गुप्त बात आपसे निवेदन करने में संकोच बहुत कुछ बाधक है। फिर भी यदि आज्ञा हो, तो पूर्ण विश्वस्त भाव से एक प्रार्थना करूँ।

कमलाक्षी—हम दोनो कई मास से एक दूसरे से प्रायः मिला करते हैं; इससे आपस का इतना महान् संकोच कुछ अनावश्यक हो गया है। जो कहना हो, प्रसन्नता-पूर्वक आज्ञा कीजिए।

सबलनंद—कह ही डालूँ ? असंतोष तो न होगा ?

कमलाक्षी—इतने भारी संकोच की क्या बात है ?

सबलनंद—यदि मेरे प्रश्नों में आपका कोई रहस्य निहित हो, तो कैसा ?

कमलाक्षी—इसका भय छोड़ दीजिए; मेरा कोई गुप्त विषय है ही नहीं।

सबलनंद—तब फिर कहे देता हूँ। है न आज्ञा ?

कमलाक्षी—इतने बार पूछने की क्या आवश्यकता थी ?

सबलनंद—अच्छा, शुद्ध मित्र-भाव से पूछता हूँ कि अभी तक किसी से आपके विवाह की तो चर्चा न चली होगी ? मुझे तो आशा है कि इस विषय पर अद्यापि आपने ध्यान ही न दिया होगा। है न यही बात ? राजकुमारीजी !

कमलाक्षी—ऐसा तो है ही। इतनी-सी छोटी बात पूछने में आपने इतनी बड़ी भूमिका बाँधी ही क्यों ? क्या इसके पीछे अपने संबंध में कुछ कहने की इच्छा थी।

सबलनंद—ऐसा साहस तो एकाएकी मैं नहीं कर सकता, क्योंकि अभी तक आपका भी आशय मुझे ज्ञात नहीं है। मैं तो आपकी संगति से बहुत ही प्रसन्न रहता हूँ। यदि मेरे भाग्य-वश आपके भी मानस-विचार इसी प्रकार चलते हों, तो आगे भी प्रार्थना चलाई जाय।

कमलाक्षी—यह तो प्रत्यक्ष है कि मेरे साथ से आप जितने प्रसन्न होते हैं, उतना ही मैं भी आपके अपूर्व गुणों से अनुरक्त हूँ। आप जो चाहें, प्रसन्नता-पूर्वक आज्ञा कर सकते हैं।

सबलनंद—तब यदि मैं विवाहार्थ आपसे प्रार्थना करने की धृष्टता करूँ, तो आपको अप्रसन्नता तो न होगी ?

कमलाक्षी—जब मेरा आपका मित्र-भाव पूर्ण है, तब विवाहार्थ प्रार्थना यदि स्वयं मैं करूँ, तो भी अनुचित नहीं, किंतु आपका कोई अभिभावक है नहीं, जिससे आप तो कोई भी इच्छा प्रकट करने में स्वतंत्र हैं, किंतु मेरे अभिभावक बाबाजी प्रस्तुत हैं। माता-पिता तथा पितामही मेरे कोई भी नहीं हैं, अतएव उन सब के अधिकार केवल पितामह में केंद्रित हैं। ऐसी दशा में ऐसे विषय पर मैं कोई सम्मति अथवा विचार प्रकट करने में स्वतंत्र नहीं हूँ। आपको योग्य है कि इस विषय पर महाराजा महोदय से बात चलाइए।

सबलनंद—क्या मैं ऐसा मान सकता हूं कि आपको इस विषय पर कोई आपत्ति नहीं है।

कमलाक्षी—जिस विषय पर मुझे स्वतंत्रता नहीं है, उस पर अपनी सम्मति या रुचि कैसे प्रकट कर सकती हूँ ? इतना तो भी गुप्त भाव से कहूँगी कि आपसे मेरी मित्रता शुद्ध और निष्कपट है। इसी भाव के आधार पर आप इस विषय को आगे बढ़ा सकते हैं। इससे अधिक मुझे कुछ विनती नहीं करना है।

सबलनंद—बड़ी ही कृपा हुई, देवीजी ! अब मैं युक्ति-पूर्वक यह परम प्रिय विषय आगे बढ़ाऊँगा।

कमलाक्षी—जैसी इच्छा।

इन दोनो की ऐसी बातें हो ही रही थीं कि राजपुत्री की एक बहिरंगा सखी वहीं आ पड़ी। दोनो से यथायोग्य नमस्कारादि के पीछे वह भी वहीं बैठ गई। तीनो में बात होने लगी—

सखी—कुमार महोदय! मेरी सखी से आज आप देर से बात कर रहे हैं; दोनो प्रसन्न भी बहुत हैं, क्या मामला है? कुछ मैं भी सुनूँ।

सबलनंद—बात यह है सखीजी! कि आपकी राजपुत्री भी शस्त्रास्त्र-प्रहार में योग्यता संपादित करना चाहती हैं।

सखी—तो आपकी क्या आज्ञा हुई?

कमलाक्षी—इनका यह कहना है कि ऐसे विषयों के लिये राजपुत्रियों के कोमल शरीर नहीं बनाए गए हैं। मैं ऐसा समझती नहीं सखीजी! इसी बात पर देर से कथनोपकथन हो रहे थे।

सखी—फिर निर्णय क्या हुआ?

कमलाक्षी—अंत में इन्हें पराजय स्वीकारनी पड़ी।

सखी—क्यों राजपुत्र महोदय! हम लोगों को आप कुछ समझते ही नहीं।

सबलनंद—यदि समझता नहीं, तो पराजय क्यों स्वीकार करता?

सखी—क्यों सखी! क्या यह बात सत्य है?

कमलाक्षी—इन्हीं से पूछिए। मुझे तो यह बड़े नटखट दिखते हैं।

सखी—क्यों कुमारजी! सच-ही-सच क्यों नहीं कहते?

सबलनंद—ऐसा करने में कभी-कभी आप लोगों की अप्रसन्नता संभव है।

सखी—अप्रसन्नता किस बात की? आप कह डालिए न।

सबलनंद—अपनी सखी से पूछ लीजिए कि मेरे ऐसा करने पर यह मुझ पर कोई प्रहार तो न कर बैठेंगी?

सखी—क्या हमारी राजकुमारी ऐसी असभ्य हैं?

सबलनंद—मैं क्या जानूँ, आप लोग मुझसे विशेष जानती होंगी। अच्छा, अब सच-ही-सच कहे देता हूँ।

कमलाक्षी—अवश्य कहिए।

सबलनंद—सखीजी ! इनका मुझसे कहना था कि इनकी कई सखियाँ बड़ी ही मूर्खा हैं। मैंने बहुत समझाया कि ऐसी अनुचित बात न कहनी थी, किंतु मानती ही नहीं।

सखी—क्यों राजपुत्रीजी ! आप हम लोगों के विषय में ऐसी बातें करती थीं ? भला, यह भी क्या योग्य था ?

कमलाक्षी—मैंने तो गुप्त भाव से एक बात कह दी थी; यह इनका नटखटपन है कि आपसे बतलाने लगे। अनौचित्य इनका हुआ कि मेरा ? फिर इनके पास क्या प्रमाण है कि मैंने ऐसा कहा ?

सबलनंद—प्रमाण तो भई, कुछ नहीं है। वचन के प्रतिकूल वचन-मात्र है। उसमें भी राजपुत्री की बात बढ़कर होगी। मैं तो एक मांडलिक-मात्र हूँ। इनकी बराबरी कैसे कर सकता हूँ ?

कमलाक्षी—तब तो ऐसा प्रमाणित हो रहा है कि मुझसे आपसे कोई बात ही न हुई।

सबलनंद—वास्तविक तथ्य भी यही है।

तीनो हँसते हैं, और फिर यह सभा भंग होती है। अनंतर अवसर पाकर एक दिन एकांत में कुमार आर्य कात्यायन से वार्तालाप प्रारंभ करते हैं—

सबलनंद—आर्य ! आपकी एक दिन आज्ञा हुई थी कि आपसे कोई बात छिपाना न चाहिए।

कात्यायन—ऐसा तो होना ही चाहिए वत्स !

सबलनंद—आज एक रहस्य निवेदन करना चाहता हूँ।

कात्यायन—मंत्रियों के समक्ष एकांत में कोई रहस्य होता ही नहीं।

सबलनंद—इसीलिये तो बिनती करता हूँ कि मेरा चौबीसवाँ वर्ष समाप्त हो चुका है, अब यदि विवाह के विषय पर विचार करूँ, तो आर्य की क्या आज्ञा हो ?

कात्यायन—समझ पड़ता है कुमार ! कि आप राजपुत्री कमलाक्षी के संबंध में ऐसा सोच रहे हैं।

सबलनंद—यही बात है आर्य ! आप तो चित्त की बात भी जान लेने में सक्षम समझ पड़ते हैं।

कात्यायन—यह विषय ही क्या कठिन था—यहाँ जब विवाह का विचार आपके चित्त में उठा, तब पात्री और कौन हो सकती थी ? मेरी समझ में भी बात बहुत उचित है। राजकन्या को कोई आपत्ति तो न होगी ?

सबलनंद—वह इस प्रस्ताव को बहुत प्रसन्नता-पूर्वक स्वीकार करती हैं। केवल शब्दों द्वारा ऐसा भाव नहीं प्रकट करती।

कात्यायन—तब कोई बात नहीं है वत्स ! मैं महाराज [illegible] से विचार-विनिमय करके यह विषय अति शीघ्र निर्णीत कर दूँगा। वह स्वयं आपके साथ यह संबंध चाहते हैं, किंतु एक मान्य अतिथि पर कोई अनुचित दबाव न पड़े, इसीलिये अपनी ओर से नहीं कहते थे। जब स्वयं आपको स्वीकार है, तब कोई झगड़ा शेष नहीं रहता। इसे निश्चित जानिए। आपकी ओर से कोई संदेह तो नहीं है ?

सबलनंद—अणु-मात्र नहीं आर्य ! वरन् आपकी बड़ी कृपा होगी।

कात्यायन—तब फिर मामला सिद्ध समझिए।

इस प्रकार बात होने पर शुभ मुहूर्त में यह विवाह प्रेम-पूर्वक संपादित हो गया, और पति-पत्नी प्रसन्नता के साथ एकत्र रहने लगे।

त्रयोदश परिच्छेद

चंद्रगुप्त, सुनंदा और हेलेन

सम्राट् चंद्रगुप्त नवनंद के पीछे सुनंदादेवी के दर्शन करना चाहते थे, किंतु कुछ काल तक उनका पता ही न लगा। अनंतर जब वह पाटलिपुत्र में देख पड़ीं, तब सम्राट् की प्रार्थना उनके पास परम शीघ्रता-पूर्वक पहुँची, और वह राजप्रासाद में उपस्थित होकर उनसे मिलीं। दोनो में वार्तालाप होने लगा—

चंद्रगुप्त—देवि ! आजकल मुझे आपको मुख दिखलाने का भी साहस नहीं होता, किंतु धृष्टता-वश फिर वार्तालाप करने को सन्नद्ध हूँ।

सुनंदा—कारण तो इसका प्रस्तुत है, और पूज्यपाद पिताजी का अमंगल सुनकर मैं भी दस-पाँच दिन बहुत विकल रही, किंतु अब तो उस बात का समय बीत गया है। उनका आपसे संबंध ही ऐसा हो गया था कि या तो आप उनके हाथ से मृत्यु स्वीकार करते अथवा यही उपहार उन्हें देते। कौन कहता है, ऐसी दशा में आपका उनसे व्यवहार अनुचित था? आपने तो उनके साथ राजभक्ति स्थापित रखना चाही थी, किंतु मेरे संबंध में आपकी नाहीं से उन्होंने जो अपना घोर निरादर समझा, वही सारी विपत्तियों का कारण हुआ। यदि आपका राज्य न लेते, तो भी कुछ न होता। जब छीना-झपटी का व्यवहार चल ही पड़ा, तब जितना कुछ आपसे छीनते बना, उसे लेने में आप ही का क्या दोष था?

चंद्रगुप्त—देवीजी ! आपके विचार बहुत ही उच्च हैं। आप तो मानस-बल में भीम हैं। जो कुछ मैं कहता, वह सब आप ही ने कह दिया, तो भी लज्जा के मारे मेरा मुख आपके सम्मुख नहीं होता। आशा है, क्षमा करने की कृपा करेंगी।

सुनंदा—यदि क्षमा से ही आप प्रसन्न होते हों, तो ऐसा भी किए देती हूँ, यद्यपि इसकी आवश्यकता नहीं। आप अपना विमल चित्त कल्मल-हीन रखिए।

चंद्रगुप्त—यदि आपके मल-हीन मानस के समक्ष पाने की मुझमें शक्ति होती, तो इतना भारी उपद्रव क्यों होता? आपके भ्राता युवराज का भी मेरे पाटलिपुत्र छोड़ने के पश्चात् अचानक स्वर्गवास हो गया था, जिससे पिता के पीछे आप ही उत्तराधिकारिणी रह गई थीं। यदि अब भी आप मेरा प्रणय स्वीकार कर लें, तो ऐसी दशा उपस्थित हो जाय, मानो कुछ हुआ ही न था। सम्राज्ञी का पद आपका था ही। वही मैं सुख से अर्पण करता हूँ। विवाहार्थ मुझे पसंद कर ही चुकी थीं। वही-की-वही बात अब भी प्रस्तुत है। आप ही के हाँ-भर कह देने से सब काम बन सकता है।

सुनंदा—ऐसे कथन एक योगिनी से बार-बार करना आपकी विद्वत्ता को शोभा नहीं देता। मैं जगन्माता हो चुकी हूँ। क्या अपने एक पुत्र से विवाह कर बैठूँ? ऐसा असंभव है।

चंद्रगुप्त—बात वास्तविक ऐसी है कि आपके पिता का साम्राज्य तो मैं बल-पूर्वक ले सकता था, किंतु आपका कैसे लूँ? चाहे विवाह कीजिए अथवा नहीं, किंतु अपने साम्राज्य का भार आज से आप ही उठाइए। मैं इसे छोड़ता हूँ; आप जानें, और आपका काम जाने।

सुनंदा—साम्राज्य मेरा था ही कब, जो मैं उसे ग्रहण करूँ? जब मेरा उत्तराधिकार खुला, तब पूज्य पिताजी सम्राट् थे ही कब? इन बातों में क्या रक्खा है? अपनी प्रजा को सुपालित रखने का भार आपके ऊपर है। क्या वह वास्तविक धर्म छोड़ने का आपको अधिकार है? अब तक मेरा धर्म छुड़ाने पर कटिबद्ध थे, अब अपना भी त्यागने लगे। राज्य केवल अधिकार न होकर भारी भार भी है।

चंद्रगुप्त—अच्छा, साम्राज्य को जाने दीजिए, एक प्रेमी की प्रेम-प्रार्थना स्वीकार कर लीजिए। इस चमकते हुए, अभूतपूर्व रूप की एक भी प्रतिच्छाया संसार में छोड़ने की कृपा क्या न कीजिएगा? देखिए, मेरा

प्रथम तथा वास्तविक प्रेम आप ही के चरणों पर अर्पित था, और है। इतरों से प्रीति तो केवल राजनीति-मूलक थी।

सुनंदा—क्या "नारीजने धूर्तता" का तथ्य चरितार्थ किया जा रहा है? बेटी दुर्धरा को देखकर आपे से बाहर हो गए थे। ऐसी प्रगाढ़ प्रीति केवल राजनीतिक नहीं मानी जा सकती।

चंद्रगुप्त—ऐसा अवश्य हुआ था, किंतु इतर गुणों में बेचारी सम्राज्ञी आपके सामने कहाँ ठहर सकती हैं? "झौवा और पौवा" का अंतर है। रूप भी आपमें कम नहीं है। सभी गुणगण पर ध्यान देकर बात कही जाती है। क्या वचनों पर भी अविश्वास का समय आ रहा है?

सुनंदा—अच्छा, हेलेन के विषय में क्या कहते हो?

चंद्रगुप्त—मुख्यतया यवनों से शुद्ध राजनीतिक व्यवहार स्थापित करने के विचार से यह संबंध खोलने का प्रयत्न था। आप ही की प्रार्थना पर उन्होंने मेरी प्राण-रक्षा भी की। राजनीति तथा कृतज्ञता दोनो बातों के कारण प्रीति मूलतः बढ़कर वर्तमान स्थिति पर पहुँची है। आप ही के पुनीत चरणों पर मेरा प्रथम तथा अमिश्र प्रेम अर्पित हुआ था, जो अब तक जैसा-का-तैसा चल रहा है। समझ देखो, प्राणेश्वरी! यदि तुम्हारे शुद्ध प्रेम का मैंने मूर्खता-वश एक बार निरादर किया, तो तुम दस बार ऐसा कर चुकी हो। एक मूर्खता पर ऐसा कराल क्रोध कब तक चलेगा? जब से एक बार क्रोध-वश आपने मेरा प्रेम छोड़ा, तब से फिर कभी इस सुखद विषय पर ध्यान ही न दिया। सोचो तो सही कि "रिस अति बड़ि, लघु चूक हमारी।" की बात है या नहीं?

सुनंदा—कौन कह सकता है कि मैंने कभी एक क्षण के लिये भी तुमसे प्रबला प्रीति छोड़ी? यह भाव तो यावज्जीवन पूर्ण बल के साथ स्थापित रहेगा, केवल रूप इसका बदल गया है। यदि प्रीति में थोड़ी भी न्यूनता होती, तो साम्राज्य-संबंधी सारा मान तथा प्राणों तक को भी हथेली में लेकर यवन-दर्प-पूर्ण ईरानी पत्थरों में क्यों सर मारती फिरती, सो भी प्रायः एकाकिनी निस्सहाय अबला होकर? क्या प्रेमाभाव का यही आधार आपको

मिला ? आपकी दोनो प्रेम-पात्रियों से आपकी शुद्ध प्रीति जोड़ने में अपने प्राचीन निरादर तक का मुक्त कंठ से कथन करके उन्हें आपमें अनुरक्त किया । जिसने आपसे किसी रूप में प्रेम किया, उसे आप ही के कारण अपना भी हितू माना, यहाँ तक कि पूज्य पिता के प्रचंड द्रोहियों—गुरुदेव तथा आर्य शकटार—से भी प्रचुर प्रेम के साथ मिली, जिससे आपके हित-साधन में तिलमात्र न्यूनता न आने पाए।

चंद्रगुप्त—आपकी कृपाओं तथा महत्ता की तो शत मुख से प्रशंसा कोई अंधा भी करेगा, किंतु मेरे प्रेम का निरादर जब बराबर हो रहा है, तब भवदीय शुद्ध प्रीति की पूर्णता कैसे मानी जा सकती है ? अब कृपा कर दीजिए देवीजी ! इस दास के अपराध क्षमा हो जायँ।

सुनंदा—अपराध ही कौन हैं, जो क्षमा करूँ ? तुमको हो क्या गया है ? एक जगन्माता से क्या प्रार्थना कर रहे हो ?

चंद्रगुप्त—जगन्माता वस्तु ही क्या है ? एक असंभव बात को बार-बार दोहराना क्या आपकी शिक्षा अथवा योग्यता को शोभा देता है ? कुछ अंधे धार्मिक उत्साहियों ने एक मिथ्या विचार चला दिया, जिसे सैकड़ों मूर्ख मानकर एक भेड़ के पीछे सभी भेड़ों की भाँति कुएँ में गिरने लगे। आप बराबर मेरी माता बनती हैं; क्या आपके गर्भ से मैं उत्पन्न हुआ था ?

सुनंदा—सो तो नहीं है, किंतु जगन्माता के विचार का तत्त्व ऐसा है कि योगिनी स्त्रियाँ सभी से पुत्रवत् प्रीति करें। मेरा प्राथमिक प्रेम दांपत्य-भाव-पूर्ण था, किंतु अब मैंने उसे पुत्र-प्रेम का रूप दे दिया है। प्रीति मेरी-आप की है, तथा सदैव रहेगी अक्षुण्ण—केवल रूप उसका बदल गया है। क्या मातृ-प्रेम स्त्रीवाली प्रीति से कम होता है ?

चंद्रगुप्त—कम क्यों होने लगा, केवल सर्वांगीण नहीं है। माता-पुत्र का संबंध केवल एक ओर से नहीं जुड़ सकता। मैं इन चरणों में अगाध प्रेम का अर्पण पत्नी-रूप में करता हूँ। बार-बार यही प्रार्थना है कि दो प्रेमी हृदयों को कुचल डालना ही सर्वोत्कृष्ट धर्म नहीं है। जब आप स्वयं अक्षुण्ण प्रेम स्वीकार करके उसका रूप-मात्र बदलना चाहती हैं, जो परिवर्तन मानने को

में प्रस्तुत नहीं, तब इस कृपा के शुद्ध भिखारी को विमुख क्यों किया जाता है? इस अभूतपूर्व, चमकती हुई छटा का आस्वादन क्यों हटाया जाता है?

सुनंदा—अब तो आप शुद्ध प्रेम के नीचे गिरकर मांसल विलास की ओर जा रहे हैं। सौंदर्य का भी जो बखान बार-बार हो रहा है, वह मुझे अग्राह्य दिखता है। रूप की मुख्यता मूलतः और वस्तुतः मनोमोहक प्रभाव मात्र पर स्थित है। जो जिसे रूपवती दिखे, वही उसके लिये ऐसी है, वास्तव में वह चाहे परम कुरूपा भी क्यों न हो।

चंद्रगुप्त—यह वार्ता तो अब मानस दर्शन की ओर जा रही है।

सुनंदा—ऐसा तो है ही। रूप का विवरण त्रिधारात्मक है, अर्थात् वस्तु-संबंधी, मानस तथा रागात्मक। किसी का वास्तविक रूप जैसे-का-तैसा कह देने पर भी सारे द्रष्टाओं पर उसका प्रभाव एक-सा ही न पड़ेगा—उसे सम्यक्प्रकारेण देखकर भी उन सबका ऐकमत्य न होगा अर्थात् वर्ण्य व्यक्ति के रूप की मात्रा में उन सबमें प्रचंड अंतर होगा। ऐसी दशा में कौन कह सकता है कि उनमें से किसका मत शुद्ध है? रूप का मानस निदर्शन इससे भी ओछा है। एक व्यक्ति उससे बहुत अधिक प्रभावित हो सकता है, और द्वितीय किंचिन्मात्र नहीं। रागात्मक विवरण बहुत ही ओछी वस्तु है। फिर उसके लिये आपके पास न्यूनता नहीं। दुर्धरादेवी को मैं स्वयं आपसे अनुकूल कर चुकी हूँ, और समझती हूँ कि हेलेन को भी कर सकूँगी। तब मांसल भावनाओं की कमी न होने से आपको उस ओर दौड़ने की क्या आवश्यकता है? रही मेरी बात, सो मैं आपसे अथाह प्रेम सदैव करती आई हूँ, तथा यावज्जीवन करती जाऊँगी। मुझे मातृभावनात्मक प्रेम आपके संबंध में प्रिय है, मांसल नहीं।

चंद्रगुप्त—यह देवीजी! आपका हठवाद है। हे हठीली प्राणेश्वरी! इस दीन अकिंचन भिखारी पर कुछ तो दया हो जाय! अब नाहीं न कर दीजिएगा। देखिए, क्षत्रिय-धर्म छोड़कर भीख माँगता हूँ।

सुनंदा—प्रिय सम्राट्! इतना हठ आपके लिये एक भिक्षुणी से योग्य

नहीं। मैंने सब कुछ छोड़कर भिक्षुणीपन उठाया है। क्या उसे भी छीनना आपके लिये योग्य है ?

चंद्रगुप्त—मैं चाहता हूँ, उसी को छोड़कर आप अपना सब कुछ फिर से ग्रहण कीजिए। बहुमूल्य सब कुछ तजकर क्या यह भिक्षुणीपन ग्रहण के योग्य था ? आपका समग्र विभव फिर भी तो सामने हाथ बाँधे खड़ा है, वरन् उसमें पंजाब और सिंध भी मिल गए हैं। केवल हाँ कहने की देर है।

सुनंदा—अच्छा, मान लीजिए, यदि मैं अपना योगिनीपन छोड़ना भी चाहूँ, तो क्या संसार मुझे परम निंद्य न समझेगा ? क्या भगवान् रामचंद्र महारानी सीतादेवी को निंद्य अथवा त्याज्य समझते थे ? फिर वह क्यों छोड़ी गईं ? जब स्वयं भगवान् ने जन-रव को ऐसा बृहत्समादर दिया, तब मैं उसका कैसे निरादर कर सकती हूँ ? "अतथ्यस्तथ्यो वा हरति महिमानं जनरवः" (जनरव सत्य हो अथवा मिथ्या, उससे महिमा का हरण हो जाता है।) आपका कथन है तो यही कि धार्मिक लेखकों के योगिनी-रूप न छोड़ने-वाले विचार न मानने से मुझे कोई पाप नहीं लगता। मैंने भी मान लिया, किंतु जनरव का अपमान कैसे हो सकता है ? क्या भगवान् रामचंद्र भी अशुद्ध मार्ग के पथिक कहे जा सकते हैं ?

चंद्रगुप्त—अब तो देवीजी ! आपका पक्ष गिर चुका है। यदि केवल जनापवाद का भय रह जाता है, तो मैं ऐसा प्रकट कर दूँगा कि मैंने बल-पूर्वक, आपकी इच्छा के प्रतिकूल विवश करके आपको गृहस्था तथा धर्मपत्नी बना लिया है। आप कर ही क्या सकती थीं ?

सुनंदा—ऐसी दशा में सुख-पूर्वक राजप्रासाद में न रहकर मैं आत्मघात कर सकती थी। यदि कहने-भर को इसे पाप मानकर ऐसा न करूँ, तो कम-से-कम असत्य भाषण का पातक तो मुझे लगेगा ही। यह तो वास्तविक पाप है ?

चंद्रगुप्त—देवीजी ! अब आप तर्क के चक्कर में पड़कर कुतर्क की सीमा के अंदर जा चुकी हैं। किसकी मजाल है कि आपसे किसी प्रकार के प्रश्न कर सके ? हे मेरी हठीली, लोकानुभव-शून्य प्राणेश्वरी ! इस चरण-सेवक की एकमात्र शुद्ध प्रार्थना स्वीकार करके आजीवन जी भर-भरकर

साम्राज्य-सुख तथा पूर्ण प्रीति का छलकता हुआ मादक प्याला पान करने का आनंद उठा ले, और अपने मूर्खता-पूर्ण भिखारी-जीवन को तिलांजलि दे दे। मान जा, हठीली ! देख, इसमें हम दोनो का वास्तविक आनंद तथा शुद्ध न्याय है। सैकड़ों संन्यासी यह व्रत छोड़-छोड़कर गृहस्थ होते हैं; तू भी ऐसा ही कर ले प्राणेश्वरी ! और, कंटकाकीर्ण इस अपने नीरस जीवन को लात मार दे। तूने भी पिता के दबाव पड़ने के भय से यह मार्ग अपनाया था, कुछ शुद्ध विरक्ति से नहीं। अविवाहित संन्यासिनियों की गति नहीं होती, ऐसा शास्त्रों का भी कथन है।

सुनंदा—प्रियवर सम्राट् ! मैं आपका प्रेम-दान स्वीकार करती हूँ। इसमें मुझे तिल-मात्र असंतोष नहीं। प्रीति तो मेरी आपकी सदैव से चली आती है, तथा रहेगी भी, केवल उसे शुद्ध सात्त्विक रूप में रखिए। मेरी-तुम्हारी मानस प्रीति होगी, मांसल नहीं। तुम पुत्र-पौत्रवान् होगे ही; इधर मेरी गति योग-बल से हो जायगी। अब इस विषय में हठ न करो, कोई अन्य वार्ता चलाओ।

चंद्रगुप्त—राजपुत्री ! तेरा धैर्य धन्य है ! अच्छा, अब द्वितीय प्रार्थना यह है कि भिक्षा-वृत्ति तथा देशाटन बहुत कुछ छोड़कर राजप्रासाद में अथवा किसी आराम में विराजने की कृपा कीजिए, जिसमें मुझे प्रायः नित्य दर्शनों का सुख प्राप्त हो जाया करे। जब कहीं बाहर जाना बहुत आवश्यक हो जाय, तब समुचित संख्या में अनुयायी लेकर उचित रीति से पधारिएगा।

सुनंदा—है तो संन्यासाश्रम के लिये यह भी अनुचित, किंतु आपका यह द्वितीय हठ माने लेती हूँ। यदि आज्ञा हो, तो एक बात और कहूँ।

चंद्रगुप्त—क्या ऐसी प्रार्थना की भी आवश्यकता है ? जो चाहिए, सुख-पूर्वक आज्ञा कीजिए।

सुनंदा—मैं समझती हूँ, हेलेनदेवी प्रायः चार वर्षों से आपकी प्रतीक्षा में होंगी। रूप, गुण, प्रेमादि में कोई न्यूनता नहीं है, तथा उपकार भी बहु-तेरा कर चुकी हैं, जिसमें राजभक्ति से भी प्रतिकूलता हो गई थी। यदि इच्छा हो, तो गुरुदेव के साथ उस ओर जाकर उनसे मिलने का प्रयत्न करूँ।

चंद्रगुप्त—बात तो अच्छी सुझा रही हो, किंतु ऐसे मामले में गुरुदेव को कष्ट देना क्या उचित है ? मैं तो समझता हूँ, समुचित संख्या में अनुयायियों के साथ केवल आप ही पधारिए। मैं भी उसी ओर राज्य-निरीक्षणार्थ चलूँगा, किंतु सीमा के बाहर मेरा जाना भय से खाली नहीं। वार्तालाप करके उनको वहीं लाने का प्रयत्न कीजिएगा, क्योंकि मेरा एक विवाह हो चुकने के कारण द्वितीय विवाहार्थ उनकी सन्नद्धता कुछ कठिन होगी, जो केवल आपके प्रयत्नों से वारे लगना संभव नहीं है। इतना अवश्य समझ पड़ता है कि संसार-त्यागिनी होने के पीछे आपका ऐसी बातों में पड़ना कुछ अनुचित लगता ही है।

सुनंदा—है तो ऐसा अवश्य, किंतु आपसे विशेषतया प्रसन्न रहने के कारण मैं आपके हितेच्छुओं की भलाई किए विना नहीं रह सकती। इतनी ही न्यूनता मेरे संन्यासिनीवाले जीवन में मानी जा सकती है।

चंद्रगुप्त—जब आपका चरित्र पूर्णतया निर्लेप है, तब मुझे कोई अनौचित्य नहीं दिखता, क्योंकि सारी कार्यवाही शुद्ध दृष्टि से परोपकार-मात्र ही ठहरेगी।

सुनंदा—है तो मूलतः यही बात; फिर भी शुद्ध धार्मिक दृष्टि से जैसी कुछ ठहरे, यह बात मैं पूरी करूँगी ही।

चंद्रगुप्त—अच्छा, फिर उधर चलने का प्रबंध हो। एक बात और पूछना चाहता हूँ।

सुनंदा—कहिए, क्या इच्छा है ?

चंद्रगुप्त—इन दिनों गुरुदेव को सूचना मिली है कि महर्षि कात्यायन लौहित्य की ओर छद्म वेष में पहुँचे हैं। आपकी भी यात्रा बंग की ओर हुई थी। क्या उनका कोई पता मिला था ?

सुनंदा—यह राजनीतिक विषय है, जिस पर एक शब्द भी कहना मेरे धार्मिक जीवन के प्रतिकूल है। पिताजी के मामलों में तो मैं पितृभक्ति के कारण पड़ी थी, नहीं तो वह भी अलग ही रखती।

चंद्रगुप्त—कथन आपका यथार्थ है। अच्छा, फिर हेलेन की ओर चलने का संभार हो।

इस प्रकार वार्तालाप करके उधर के प्रस्थान का प्रबंध आर्य चाणक्य की आंतरिक सम्मति के अनुसार हुआ। देवी सुनंदा अपनी संन्यासिनी सखी के साथ घूमती-फिरती उधर पहुँचीं, और इधर सम्राट् राज्य की सीमा पर विराजे। इधर-उधर टोह लगाती हुई आप हेलेनदेवी के स्थान पर पहुँचकर युक्ति-पूर्वक उनसे एकांत में मिलीं, तथा प्रेम-पूर्वक वार्तालाप होने लगा—

हेलेन—(हँसकर) कहिए, योगिनीजी! कई सालों के बाद आज इस नाचीज़ की याद आई।

सुनंदा—क्या करती देवीजी! भारत में इन दिनों बड़े ही उथल-पुथल हुए। आपके सम्राट् अलिकसुंदर का देहांत ही हो गया। इधर मेरे पूज्य पिता भी स्वर्गवासी हो चुके हैं। आपने सुना ही होगा कि हम दोनो के मित्र चंद्रगुप्त ही अब वंग से हाला पहाड़ तक के सम्राट् हैं।

हेलेन—यह मैं सब सुन चुकी हूँ। बड़े ही खुश-क़िस्मत हैं कि इतनी जल्दी से इतनी बड़ी शहंशाही हासिल कर ली। जादू की छड़ी-सी फेर दी। इधर हमारे शहंशाह के पीछे उनके मातहत सिपहसालारों में सख़्त जंगो जदल मची रही, जिससे हम लोग अपने हिंदुस्तानी फ़तूहात को मुस्तहकम न रख सके।

सुनंदा—सुना, अब तो आपके पूज्य पिताजी का अधिकार बहुत कुछ जम चुका है।

हेलेन—है बहुत कुछ ऐसा ही। बटवारा-सा हो गया है, मगर कमो-बेश गड़बड़ अब भी बाक़ी है।

सुनंदा—इस काल तो आप भारतीय सीमा के निकट ही विराज रही हैं?

हेलेन—ऐसा ही है; आजकल आपके शहंशाह किधर हैं?

सुनंदा—आपकी दर्शनेच्छा से सीमा पर ही प्रस्तुत हैं।

हेलेन—उन्होंने तो चार साल के अंदर कभी इधर रुख ही न किया।

सुनंदा—करते कहाँ से ? इन्हीं चार वर्षों में तो उन्होंने अपना विशाल साम्राज्य उपार्जित कर लिया है। दम लेने तक का तो समय न था। अब प्राय: दो-तीन मास से स्वतंत्र हैं। इन दिनों में भी उनसे मिल न सकी। ज्यों ही मिली कि तुरंत इधर के लिये प्रस्थित हो गए। भाग्य-वश आपका भी शिविर यहीं है।

हेलेन—कोई खत भी तो नहीं भेजा।

सुनंदा—पत्र कैसे भेजते ? वहाँ के लोग इधर आने तक से डरते हैं।

हेलेन—अच्छा, अब क्या चाहते हैं ?

सुनंदा—आपके दर्शनाभिलाषी हैं। स्वयं तो सीमा पार कर सकते नहीं, क्योंकि विना दल-बल के आने से वंदी हो सकते हैं, और ससेन आने से युद्धारंभ संभव है। यदि आप ही सैर के व्याज से पधारें, तो उनकी दर्शनों-वाली कामना पूरी हो सकती है।

हेलेन—मिलने की ज़रूरत ही क्या है ? अब तक उनकी शादी हो चुकी है कि नहीं ?

सुनंदा—वह तो विवाह करते न थे, किंतु गुरुजी ने बहुत हठ किया, जिससे विवश होकर उन्हें महाराजा पोरस की एकमात्र कन्या दुर्धरा से विवाह करना पड़ा। दो बरस का युवराज बिंदुसार भी हो चुका है। देवी दुर्धरा अपने पिता की उत्तराधिकारिणी थीं, जिससे पोरस का राज्य पाकर ही उन्होंने फैलाव प्रारंभ करके एक ही वर्ष में साम्राज्य उपार्जित कर लिया।

हेलेन—बात तो बहुत अच्छी है, लेकिन मुझसे क्यों मिलना चाहते हैं ?

सुनंदा—मैंने पहले ही कहा था कि वह आपसे प्रसन्न बहुत हैं। कारागार से निकलने में भी आपसे पूर्ण सहायता मिली। प्रेम और उपकार, दोनो के भार से दबे हुए हैं।

हेलेन—क्या दो-दो मलिकाएँ हो सकती हैं ?

सुनंदा—भारत में तो तीन-तीन, चार-चार तक होती हैं। यूनानी रीतियों पर विशेष हठ की क्या आवश्यकता है ? सभी बातों पर विचार होकर निश्चय होना चाहिए ।

हेलेन—क्या आप उनसे शादी करना अब भी नहीं चाहतीं ?

सुनंदा—कहाँ भिक्षुणी और कहाँ सम्राज्ञी ! आप भी कैसी बातें करती हैं ? मैं इन झगड़ों में नहीं पड़ती।

हेलेन—आपके वालिद माजिद को उन्हीं ने मारा होगा। क्या आप इस बात से नाखुश नहीं हैं ?

सुनंदा—इस बात का मुझे दुःख अवश्य है, किंतु युद्धों में ऐसा हुआ ही करता है। इससे क्रोध क्या करती ?

हेलेन—आपका दिल बहुत साफ़ है। क्या एक शहंशाह की भी मलिका होना आप नहीं चाहतीं ?

सुनंदा—नहीं ।

हेलेन—क्यों ?

सुनंदा—यदि राज्य का ही लोभ करती, तो संन्यास क्यों लेती ? अब मुझको राज्य-लोभ शेष नहीं है।

हेलेन—ऐसी उलुलअज़्मी देखकर तअज्जुब होता है। फिर भी आप मुझे उनकी दूसरी मलिका बनने की सलाह दे रही हैं।

सुनंदा—आप कौन संन्यासिनी हैं ? कोई कष्ट नहीं हो सकेगा। हमारे यहाँ सभी रानियाँ अलग-अलग प्रेम-पूर्वक रहा करती हैं। फिर मैं कुछ कहती थोड़े ही हूँ, केवल भेंट के लिये बुलाती हूँ।

हेलेन—अच्छा, आप यहीं तशरीफ़ रखिए; मैं वालिदा माजिदा से ज़िक्र करके सैर के हीले से आपके साथ चलूँगी। क्या आप घोड़े पर सवार हो सकती हैं ?

सुनंदा—मैं और मेरी सखी, दोनो घोड़ों पर बैठती हैं।

इस प्रकार वार्तालाप करके हेलेनदेवी योगिनी सुनंदा के साथ भारत की ओर प्रस्थित हुईं। एक शीघ्रगामी साँड़नी-सवार द्वारा सम्राट को सचना दे

दी गई, और वह पंद्रह-वीस मित्रों के साथ कोस-डेढ़ कोस आगे बढ़कर इनकी अगवानी को गुप्त रूप से गए। मार्ग में मिलकर ये सब अत्यंत प्रसन्न हुए, और एक विशाल पट-भवन में इनका वार्तालाप होने लगा। साधारण बात-चीत हो ही रही थी कि सुनंदादेवी ने और सबको युक्ति-पूर्वक वहाँ से हटा दिया, और फिर किसी व्याज से स्वयं भी हट गई, जिससे केवल चंद्र-गुप्त और हेलेनदेवी रह गईं, और पूर्ण मित्र-भाव से कथनोपकथन होने लगे—

चंद्रगुप्त—देवीजी ! चार वर्षों के पीछे आपके आज दर्शन पाकर मैं जितना प्रसन्न हुआ हूँ, वह वर्णनातीत है। आशा है, आप प्रसन्न रही होंगी।

हेलेन—आपकी इनायत से निहायत शाद रही हूँ। आपके शहंशाही हासिल कर सकने पर मुबारिकबादी देती हूँ !

चंद्रगुप्त—बड़ी ही अनुकंपा है, मुझे भी ऐसी ही बधाई देने का अवसर प्राप्त है। मैंने तो आपके सम्राट् अलिकसुंदर को बहुत समझाया था, और इसी रूप में संधि भी चाही थी, जो दोनो को हितकर होती, किंतु भारी विजयों के कारण उनमें अहम्मन्यता कुछ ऐसी विशेष आ गई थी, जो अंत में उन्हीं के विनाश का कारण हुई।

हेलेन—नतीजा तो ऐसा ही हुआ, मगर उस वक़्त कौन समझ सकता था कि इस जल्दी के साथ आप एक मामूली राजा के बेटे के दर्जे से बढ़कर शहंशाह हो जायँगे ? बहरहाल जो हुआ, सो हो ही चुका, और अच्छा ही हुआ।

चंद्रगुप्त—मैंने आपसे सिवा साधारण मित्र-भाव के कभी कोई प्रार्थना नहीं की थी, किंतु मेरी ओर से योगिनीजी ने थोड़ी-बहुत बिनती कर ही दी। संकोच-वश मुझसे कुछ कहते-सुनते न बना था। इसका एक कारण यह भी था कि यूनानी सभ्यता का मुझे इतना ज्ञान न था कि निश्चित रूप से ऐसे विषय पर कुछ कहता। आशा है, अब मुझे कुछ कहने की आवश्यकता न होगी।

हेलेन—आप तो खुद इतना शर्माते हैं, गोया बेगम बने जाते हैं। तो भी जो कुछ कहना हो, कह सकते हैं।

चंद्रगुप्त—आशा तो ऐसी न थी कि आप इन चार वर्षों में अविवाहिता रहेंगी; फिर भी मेरे सौभाग्य से हुआ ऐसा ही। क्या अब मैं ऐसी प्रार्थना कर सकता हूँ ? यदि मेरी ओर आपकी महती कृपा न होती, तो इतने दिन अविवाहिता रहने का कष्ट क्यों उठाया जाता ? इतना कहूँगा ही कि प्रीति मेरी आपके ऊपर सदैव से बहुत प्रगाढ़ रही है, और आशा ऐसी है कि आपके भी भाव मेरी ओर उसी प्रकार के थे, और हैं। यवन-कारागार से मुझे मुक्त कराने में भी आपकी महती कृपा हुई। मेरी ऐसी प्रार्थना बहुत अयोग्य तो नहीं है ?

हेलेन—नामुनासिब क्या है ? दोस्ती तो मेरी-आपकी देरपा और काफ़ी थी। जब आप मुझसे अलाहिदा हुए थे, उस वक़्त उम्र के ख़याल से मेरी शादी हो भी नहीं सकती थी। ऐसी हालत में आपका कुछ न कहना बेजा न था। अब जो आपने ख़्वाहिश ज़ाहिर की है, उसके बाबत मुझे यही कहना है कि चाहती तो मैं आपके साथ शादी ज़रूर थी, मगर दो बातें हायल हैं। एक तो आपकी शादी हो चुकी है, और दो शादियों का तरीक़ा अपने यहाँ मुरव्विज नहीं है। फिर इस मामले में एक सियासी सवाल भी लगा हुआ है, और बिला वालिद माजिद की राय जाने मैं कुछ कह नहीं सकती।

चंद्रगुप्त—यवन तथा भारतीय साम्राज्यों के प्रश्न इसमें लगे अवश्य हैं, किंतु विवाह एक आत्मीय संबंध है। पहले अपनी स्वीकृति प्रकट होने की आवश्यकता है। उसके पीछे आपके पूज्य पिता की अनुमति युक्ति-पूर्वक ले ली जायगी। जहाँ तक आत्मीय भावना का प्रश्न है, वहाँ तक स्वीकृति आपकी समझ पड़ती है, किंतु मेरे प्रथम विवाह से कुछ संकोच की स्थिति दिखती है।

हेलेन—असल बात यही है। दूसरी शादी पहली औरत की ज़िंदगी में हमारे यहाँ मकरूह समझी जाती है।

चंद्रगुप्त—साधारण गृहस्थों में ऐसी दशाओं में कठिनता अवश्य पड़ती है, किंतु सम्राटों आदि के यहाँ क्या काठिन्य होगा ? यदि चाहें, तो दोनो सम्राज्ञियों में कभी मिलन ही न हो। कष्ट आपको क्या हो सकता है ?

एक यूनानी सामाजिक नियम-मात्र बाधक है, जो भारत के लिये कोई बात नहीं। मैं समझता हूँ, देवीजी को मेरी प्रार्थना प्रसन्नता-पूर्वक स्वीकार करनी चाहिए। आपके पूज्य पिता के विषय में मैं पीछे विनती करूँगा। पहले आपकी निजू स्वीकृति वांछनीय है।

हेलेन—अच्छा, मान लिया कि मैं जाती मंजूरी देती हूँ। अब आगे की बात पर ग़ौर कीजिए।

चंद्रगुप्त—(कई प्रगाढ़ प्रेम-चुंबन लेकर) मैं देवीजी की इस स्वीकृति से अपने को धन्य समझता हूँ। रही आपके पूज्य पिता की बात, उसके विषय में मेरा-उनका मिलन तो अब कठिन है। आप ही आज्ञा कीजिए कि उन्हें क्या आपत्ति संभव है ?

हेलेन—एक तो यही बात है कि वह सिकंदरी फ़तूहात के हिंदी ममालिक आपसे वापस लेने के ख्वाहाँ हैं। इस बात का क्या इंतिज़ाम हो ?

चंद्रगुप्त—व्यास-नदी के वाम पार्श्व-पर्यंत यवन-विजय फिर से जीवित करने का विचार अब एक स्वप्न-मात्र है, जिसका सफल होना नितांत असंभव है। स्वयं अलिकसुंदर को नवनंद के दल से लड़ने का साहस न हुआ, यद्यपि वह समय नंदों के लिये क्रांति का था। अब तो मेरा साम्राज्य उससे भी बहुत बढ़ चुका है। मैं समझता हूँ, आपके पिता के लिये इस स्वप्न का त्याग उचित है, नहीं तो उन्हीं की महत्ता का अमंगल संभव होगा।

हेलेन—हो ऐसा भी सकता है, मगर मेरे कहने से वह यह मानेंगे कब ?

चंद्रगुप्त—तो मेरा द्वितीय उत्तर यह है कि मेरा-आपका संबंध एक आत्मीय विषय होगा, जिसका राजनीति से कोई संबंध नहीं। यदि भारतीय आक्रमण करके उन्हें अपनी कीर्ति गँवाने की इच्छा होगी, तो मेरा उनका ऐसा निबंध रहेगा कि डीली रूप में न वह मेरे अमंगल का प्रयत्न करें, न मैं उनके अमंगल का—राज्य चाहे जितना वह मेरा छीनने का प्रयत्न करें, और मैं उनका। इसमें मेरा-आपका संबंध बाधक न होगा, ऐसा मैं वचन देता हूँ।

हेलेन—मुमकिन है, वह यह शर्त मान लें।

चंद्रगुप्त—इस विषय में मैं आप ही को अपना प्रतिनिधि बनाता हूँ। आशा है, फल इच्छानुकूल ला सकेंगी।

हेलेन—उम्मीद मुझे भी यही है।

इस प्रकार संभाषण करके हेलेनदेवी ने चंद्रगुप्त और सुनंदादेवी से प्रेम-पूर्ण विदा ली, और अपने माता-पिता की सेवा में उपस्थित होकर यह मामला उनके सम्मुख युक्ति-पूर्वक रक्खा। चंद्रगुप्त के महान् सद्गुणों से वे दोनो पहले ही से बहुत प्रभावित थे। इधर इनके सम्राट् हो जाने से यह विषय और भी योग्य दिखने लगा। थोड़े ही से कथनोपकथन के पीछे मामला प्रेम-पूर्वक निर्णीत हो गया, और यथासमय विवाह भी संपन्न हुआ। सल्यूकस ने अपने पद के अनुसार प्रचुर मात्रा में दायज दिया, और सम्राट् चंद्रगुप्त नव विवाहिता सम्राज्ञी के साथ यथासमय पाटलिपुत्र पहुँचे। सुनंदादेवी की मध्यस्थता में दुर्धरा और हेलेन का बड़ा ही प्रेम-पूर्ण मिलन हुआ, और ये दोनो बहुत प्रसन्नता के साथ पाटलिपुत्र में रहने लगीं। समय पर दुर्धरा महादेवी को दो पुत्र-रत्न और प्राप्त हुए, तथा दो हेलेन-देवी को भी। इन दोनो के एक-एक कन्या भी हुई।

चतुर्दश परिच्छेद

संग्राम का प्रबंध

(अ) लौहित्य की युद्धार्थ तैयारी

सबलनंद का विवाह होने पर कुछ मास पीछे महामंत्री कात्यायन ने बंग-विजय का प्रबंध किया, तथा एक लक्ष सेना के साथ सहसा उतर-कर मौर्यों की तत्प्रांतीय स्वल्प सेना को सुगमता-पूर्वक तितर-बितर कर दिया। इस प्रकार नवनंदों का अधिकार बंग-प्रांत पर शीघ्रता से हो गया। मौर्यों ने दो-चार प्रयत्न इन्हें वहाँ से उखाड़ने के किए, किंतु वे सब व्यर्थ हुए। इधर महर्षि कात्यायन ने कलिंग में राजदूत बनाकर आर्य भद्रशाल को भेजा, तथा जांगल देश में अपने यहाँ के सांधिविग्रहिक को। जब भद्रशाल कलिंग-राजधानी पहुँचे, तब महाराजा महावेल के राज्य से उनका भारी मान हुआ। अनंतर वहाँ सांधिविग्रहिक द्वारा आगमन-हेतु जानकर उस राज्य ने गुप्त राजसभा में मान-सहित आहूत करके इनसे नीति-पूर्वक वार्तालाप किया—

महामंत्री—महासेनापति महोदय ! आशा है, आपको मार्ग में कोई कष्ट न हुआ होगा, तथा यहाँ भी प्रसन्न होंगे।

भद्रशाल—आर्य ! मैं मार्ग में बहुत सुख-पूर्वक आया, तथा यहाँ आदर-सम्मान की कोई सीमा नहीं है। यदि देव की आज्ञा हो, तो प्राभृतक आदि उपस्थित करूँ।

महाराजा—बहुत उचित है आर्य !

अब महासेनापति भद्रशालजी प्राभृतक महामंत्री को देते हैं, तथा नवनंद भूपाल की ओर से नज़र एवं अपनी ओर से नज़र-निछावर करते हैं। ये भेंटें प्रेम-पूवक स्वीकार होने के पीछे फिर वार्तालाप प्रारंभ होता है—

सांधिविग्रहिक—आर्य ! आपके प्राभृतक की प्रतिलिपि पहले ही से देव की सेवा में उपस्थित हो चुकी है, तथा इन्हीं के सम्मुख मंत्रि-मंडल में विचारविनिमय हो चुका है। आपको जो कुछ विशेष कहना हो, वह भी प्रकट करने की कृपा कीजिए।

भद्रशाल—ऐसी दशा में आर्य ! मुझे बहुत कुछ बिनती करने की आवश्यकता न पड़ेगी। ऐसे प्रवीण मंत्रिमंडल तथा अनुभवी महाराजा के समक्ष एक सैनिक-मात्र होकर कोई विशेष कथन में क्या कर सकता हूँ ? फिर भी देव की कृपा-पूर्ण आज्ञा के पालनार्थ विनम्र निवेदन करता हूँ कि हमारे नवनंद-साम्राज्य की कलिंग से कभी कोई कथनीय अनबन नहीं हुई। दोनो शक्तियाँ सदैव मान-पूर्वक अपने-अपने अधिकारों का उपभोग विना एक-दूसरी की रोक-टोक के, करती रहीं। ये दोनो शक्तियाँ सदैव अव्याहत रूप से आपस में गतिशील रहीं। हमारे सम्राटों का विचार था कि अनेकानेक महाजनपदों के स्वतंत्र रूप से रहने में देश का मंगल असंभव था। कहने को तो वे महाजनपद थे, किंतु शक्तियाँ उनकी नितांत क्षुद्र थीं। अतएव भारतीय शक्ति दृढ़ करने के विचार से हमारे यहाँ से महाजनपदों का तो अंत किया गया, किंतु स्वार्थ-साधन की प्रवृत्ति को न बढ़ाकर कलिंग, जाँगल-देश आदि की सुसंगठित शक्तियों से कभी कोई बिगाड़ नहीं हुआ।

महाराजा—ये सारे कथन कार्यों से भी प्रमाणित हैं। नवनंद-शक्ति पर जो विपत्ति इन दिनों पड़ी है, उससे इस राज्य को विशेष खेद है, तथा आपके भावी मंगल की कामना प्रबला है। हम लोगों को बड़ी प्रसन्नता है कि महर्षि कात्यायन ने लौहित्य में बल बढ़ाकर बंग पर भी अधिकार कर लिया है। अब भविष्य के लिये आप महाशयों का कैसा विचार है ?

भद्रशाल—देव ! अपने पास सवा-डेढ़ लक्ष तक सेना प्रस्तुत हो चुकी है, तथा इसी के अनुसार दल के शेषांग भी हैं। बंग तो अब मौर्य हमसे पा सकते नहीं, किंतु विना दो लक्ष पदाति तथा इसी के अनुसार इतर सेना के हम और शेष साम्राज्य पर अधिकार नहीं कर सकते। महर्षि कुमार सबलनंद तथा महाराजा विशालाक्ष का संकल्प है कि

जैसे मौर्यों ने अनधिकार चेष्टा से हमारा साम्राज्य छीना है, वैसे ही उनसे बदला अवश्य लिया जाय। अपने नवनंद-साम्राज्य के पुनः स्थापन का जैसा चोप हम सबों को है, वैसा ही बदला लेने का भी। धर्म-मूर्ति तथा विश्वास-मूर्ति सम्राट् धननंद का जिस निर्दयता से वध किया गया, उसका पूरा प्रतिशोध विना लिए हम सबों का रुधिर खौलता है। फिर भी यह कार्य विना देव तथा दो-एक अन्य शक्तियों की सहायता के पूरा नहीं पड़ सकता। इसीलिये प्रार्थना है कि इस धर्म-पूर्ण प्रारंभ में सभी नीति-निपुण तथा धर्मवान् शक्तियों का सौहार्द हमारे नवनंद-वंश को मिलना चाहिए। यह सब देव की ही कृपा पर निर्भर है।

महाराजा—आप तो अपने यहाँ के महाबलाधिकृत हैं न ?

भद्रशाल—ऐसा तो है ही, साथ ही नवनंद-सम्राट् के समय भी इस अनुचर का यही पद था देव !

महाराजा—तब मैं पूछूँगा कि अपनी और हमारी शक्ति मिलाकर क्या आप विजय की आशा दृढ़ता के साथ रखते हैं ?

भद्रशाल—मुझे तो यही समझ पड़ता है, देव ! यदि जांगल-देश और नयपाल में से किसी एक की और सहायता मिल सके, तो हमारी शक्ति मौर्य-शक्ति के समान हो जाय। फिर अपने पक्ष से जो उस ओर भारी सौहार्द प्रजा में है, विशेषतया महर्षि कात्यायन के उच्च आचरण और प्रबंध के कारण, उससे सम बल होने से बहुत करके हमारी विजय निश्चित हो जायगी, ऐसा महर्षि तथा इस अनुचर का मत है।

महामंत्री—क्यों आर्य महाबलाधिकृत महोदय ! आपकी क्या सम्मति है ?

कलिंग महाबलाधिकृत—कथन तो आर्य भद्रशालजी के ठीक जँचते हैं। अपना व्यवहार भी नवनंद-साम्राज्य से सदैव श्रेष्ठ रहा।

महामंत्री—आर्य ! यदि इस राज्य से आपको सहायता दी जाय, तो कितने सैनिक आप चाहेंगे, तथा विजय के पीछे अपना क्या लाभ होगा ? इन विषयों पर भी आपके विचार ज्ञातव्य हैं।

भद्रशाल—यदि पचास सहस्र सैनिक मिल सकें, तो नवनंदों का काम बन जाय। इसके बदले में हमारी शक्ति भी दाक्षिणात्य शत्रुओं के जीतने में आपकी सहायता करेगी। आशा है, मेरी यात्रा अब सफल होगी।

महाराजा—यह शक्ति नवनंदों के प्राचीन व्यवहार और वर्तमान स्थिति पर विचार करके सहायता करने को प्रसन्नता-पूर्वक प्रस्तुत है। इसी संबंध में हमारे सांधिविग्रहिक आपकी सेवा में प्राभृतक भेंट करेंगे।

भद्रशाल—मैं कुमार सबलनंद की, महामात्य महर्षि कात्यायन की तथा अपनी ओर से देव की सेवा में शतशः कृतज्ञता अर्पित करता हूँ। आशा है, इस बल के प्रभाव से हमारी विजय अब निश्चित हो जायगी।

महाराजा—ईश्वर करें, ऐसा ही हो।

इस प्रकार प्रेम-पूर्ण वार्तालाप के पीछे यह दरबार समाप्त हुआ, और महासेनापति आर्य भद्रशाल प्राभृतक के साथ २१ कपड़ों, अश्व तथा ५०० दीनारों की भेंट पाकर लौहित्य वापस गए। उधर जब नवनंदों के सांधि-विग्रहिक महोदय ने जांगल-देश की राजधानी में पहुँचकर वहाँ के सांधिवि-ग्रहिक से उचित वार्तालाप अपने ही डेरे पर किया, और देव के सूचनार्थ प्राभृतक की प्रतिलिपि भी अर्पित की, तब वहाँ के महाराजा ने अपने आंतरिक मंत्रिमंडल में इस विषय पर ध्यान-पूर्वक विचार किया।

मौर्यों की विजय के पीछे इस राज्य से उनकी न्यूनाधिक मुठभेड़ भी एक सीमाप्रांत-संबंधी प्रश्न पर हो गई थी। अतएव जांगलेश पहले ही से नवनंदों की सहायता उचित समझते थे। जब अंतरंग मंत्रिमंडल की बैठक में इस प्रश्न पर विचार हो चुका, तब खुला दरबार हुआ, जिसमें अतिथि सांधिविग्रहिक महोदय आदर-पूर्वक आहूत होकर सम्मिलित हुए। नवनंद-शक्ति और अपनी ओर से नज़र-निछावर तथा प्राभृतक-प्रदर्शन के पीछे इन्होंने नवनंदों की विपत्ति तथा वर्तमान विचारों एवं शक्ति का पूरा वर्णन करके इस महाराज्य की सहायता-प्राप्ति की भी प्रार्थना की। नवनंद-शक्ति का इससे जैसा अच्छा व्यवहार सदैव रहा था, उस पर भी अपने भाषण में विशेष बल दिया।

कलिंग की सहायता का भी कथन हुआ, और विजय की दृढ़ आशा का वर्णन करते हुए सहायता की प्रार्थना प्रेम-पूर्ण शब्दों में की गई। महाराजा इस भाषण से बहुत प्रसन्न हुए, तथा पच्चीस सहस्र सैनिकों द्वारा नवनंदों को सहायता मिलने का प्रेम-पूर्ण वचन दिया गया। अनंतर अतिथि सांधिविग्रहिक महोदय अपने डेरे पर उचित भेंट तथा प्राभृतक पाकर अपने स्वामी की सेवा में लौहित्य पहुँचे। कुमार सबलनंद तथा महर्षि कात्यायन इन दो ओर की सफलताओं से बहुत प्रसन्न हुए। नयपाल राज्य में भी एक मंत्री भेजा गया, किंतु वहाँ साफल्य का रूप न निकला। वहाँ के लिच्छवि राजा ने अपने पर्वतीय राज्य से ही संतुष्ट रहकर नीचेवालों से विशेष संधि-विग्रह के संबंध बढ़ाने में अपना कल्याण अथवा लाभ न समझा। सब प्रकार से अंतर्राष्ट्रीय विषय पुष्ट हो चुकने पर महर्षि कात्यायन ने कुमार, महाराजा, भद्रशाल, तथा दोनो सहायक नरेशों के महासेनापतियों के साथ बैठकर युद्ध-मंत्र दृढ़ किया। सर्व-सम्मति से यह निश्चित हुआ कि बंग तथा जांगल-देश की ओर से साथ-ही-साथ आक्रमण किया जाय। यह विचार अतिशीघ्र कार्य-रूप में परिणत किया गया, तथा रण-स्थलों पर रणचंडी के कराल नृत्य आरंभ हुए।

(ब) पाटलिपुत्र में मंत्रणा तथा कार्य-कौशल

इधर पाटलिपुत्र में बंगीय पराजय से चिंतित होकर महामंत्री आर्य चाणक्य ने मंत्रिमंडल तथा चर-विभाग के प्रवीण कार्यकर्ताओं से मंत्र दृढ़ करके सम्राट् से भी गुप्त मंत्रणा की।

चंद्रगुप्त—कहिए, गुरुदेव ! आजकल आप कुछ चिंतित दीखते हैं। बंग-पराभव है तो कोई बड़ी बात नहीं, किंतु थोड़ी पराजय भी बुरी होती है—यह नाम ही असह्य है।

चाणक्य—यही तो बात है वृषल ! अब इस विषय पर दृढ़ता से विचार आवश्यक है।

चंद्रगुप्त—कहिए, क्या आज्ञा है ? सुना, मंत्रिमंडल तथा चर-विभाग की सम्मतियों से आप मत दृढ़ कर चुके हैं।

चाणक्य—ऐसा तो हो ही चुका है वत्स ! किंतु यह विषय कुछ कठिन दिख रहा है। यदि अवकाश ग्रहण करके महर्षि कात्यायन अष्टाध्यायी पर कारिका रचने के विचार से काश्मीर न चले गए होते, तो हमें ऐसी शीघ्रता से विजय न मिलती।

चंद्रगुप्त—यही तो मेरा भी विचार है।

चाणक्य—धनंनंद-विनाश के बीस-पच्चीस दिन पीछे महर्षि गुप्त-रूपेण संन्यासी बने हुए इस ओर आए, तथा सारा समाचार पाकर सीधे लौहित्य चले गए। इसके कुछ काल पश्चात् मुझे यह सूचना मिल सकी। उनका छद्म वेप पूर्णतया सफल हो गया। यदि हम लोग उन्हें पकड़ पाते, तो इतना बखेड़ा न उठता।

चंद्रगुप्त—तो उनका पक्ष कौन इतना परम प्रबल हो गया है, जो ऐसी महती चिंता की बात दिख रही है? उनकी सेना चार खंडों से बनी होकर अपनी सेना के समान न तो सुगठित है, न विनीत (शिक्षित)। एक ही प्रबल झपेटे की होगी। कोई कठिनता नहीं दिखती।

चाणक्य—यहाँ पराभव का प्रश्न न होकर परिस्थिति की मुख्यता है। महर्षि कात्यायन ने वह बढ़िया कारिका लिखी है कि महर्षि यास्क तथा सौ-डेढ़ सौ साधारण वैयाकरणों के अब तक होते हुए भी मैं मुख्य व्याकरण-कार मुनिद्वय को ही मानता हूँ, और आशा करता हूँ कि समय पर संसार ऐसा ही समझेगा, तथा यास्क भविष्य में व्याकरणकार न माने जाकर केवल निरुक्तकार समझे जायँगे। मैंने कात्यायन-कृत कारिका की एक प्रतिलिपि काश्मीर से प्राप्त करके उसका ध्यान-पूर्वक अध्ययन किया है। ऐसी बढ़िया कारिका बनी है, जिससे व्याकरण-विभाग में भविष्य में यास्कादि के यश लुप्त हो जायँगे। है तो पाणिनी पर कारिका, तथापि ऐसे-ऐसे विषय भी हैं, जहाँ उन पर भी छींटे छोड़े गए हैं। ऐसे बहुतेरे स्थान हैं। मेरा मतैक्य ऐसे कई अवसरों-पर है महर्षि पाणिनी से ही, तथापि भविष्य में व्याकरण के लिये तृतीय मुनि की भी आवश्यकता है।

चंद्रगुप्त—जब यह बात है, तब आप ही वह तृतीय मुनि क्यों न हो जाइए ?

चाणक्य—व्याकरण मेरा विषय नहीं है वृषल ! मैं तो अर्थ-शास्त्री हूँ। यदि व्याकरण का विषय ऐसा ही सुगम होता, तो अब तक केवल मुनि-द्वय की बात क्यों होती ?

चंद्रगुप्त—किंतु यह तो विषयांतर समझ पड़ता है गुरुदेव ! कहाँ तो युद्ध पर विचार हो रहा था, और कहाँ व्याकरण का विषय चलने लगा।

चाणक्य—मैंने कहा न वृषल ! कि परिस्थिति कठिन है, युद्ध का जीतना नहीं। उसी परिस्थिति का कथन कर रहा था। महर्षि कात्यायन न केवल पूर्ण स्वामिभक्त, राजनीति-विशारद, अंतर्राष्ट्रीय महापंडित हैं, वरन् वह बड़े ही त्यागी, परोपकारी, व्याकरणविद् और अभूतपूर्व सज्जन भी हैं। ऐसे महापुरुष का अमंगल सोचनेवाला बड़ा ही नीच व्यक्ति होगा। मुझे निश्चय है कि मेरा वृषल ऐसा कदापि नहीं है, न स्वयं मैं इस कुत्सित विचार को निकट फटकने दे सकता हूँ। ऐसी दशा में यदि कठोर आक्रमण करूँ, और युद्ध में एक पग भी पीछे न रखनेवाले महर्षि कात्यायन का कहीं अमंगल हो जाय, तो मैं एक क्षण के लिये शरीर धारण नहीं कर सकूँगा, न मेरा वृषल ऐसी दशा में भविष्य के लिये सुख की नींद सो सकेगा। है यही बात कि नहीं ?

चंद्रगुप्त—इसमें क्या संदेह है ! गुरुदेव ! तब फिर क्या किया जाय ?

चाणक्य—यदि वह शत्रु-रूप में जीवित रहें, तो मौर्य-साम्राज्य दृढ़ नहीं रह सकता, और अमंगल उनका हम लोग सहन नहीं कर सकते। इस विकट प्रश्न का निर्णय कैसे हो, यही विचारणीय है।

चंद्रगुप्त—है तो बड़ा कठिन मामला गुरुदेव ! आप ही इसका उत्तर भी दे सकते हैं। ऐसी दशा में किया क्या जाय ?

चाणक्य—मैं उस महात्मा को युक्ति-पूर्वक बाँधकर वृषल तथा इस साम्राज्य का हितू बनाऊँगा। यही इस परिस्थिति की दवा है।

चंद्रगुप्त—कैसे हितू होंगे ?

चाणक्य—महामंत्री अथवा विशेष अमात्य के रूप में।

चंद्रगुप्त—क्या यह पद वह स्वीकार कर लेंगे ?

चाणक्य—हँसकर तो न करेंगे, किंतु रोकर करना ही पड़ेगा। एक बार मंत्री होने से निश्छल हितू हो ही जायँगे।

चंद्रगुप्त—गुरुदेव के लिये असंभव शब्द ही कोष में नहीं है।

चाणक्य—अच्छा वृषल ! अब मैं जाता हूँ।

चंद्रगुप्त—प्रणाम गुरुदेव !

चाणक्य—काश्मीर से कन्याकुमारी-पर्यंत सारे नरेशों की मुकुट-मणियों से रंजित तेरे पादपीठ देख-देखकर मैं नित्य प्रसन्न रहा करूँ।

चंद्रगुप्त—धन्य गुरुदेव ! धन्य !

इस प्रकार वार्ता करके आर्य चाणक्य अपनी कुटी पधारे। वहां एक शिष्य बुलाया गया।

शिष्य—प्रणाम गुरुदेव ! क्या आज्ञा है ?

चाणक्य—समिधाएँ सूख चुकी हैं न ? बेटे ! आशा है, भिक्षा भी शिष्यों में बट चुकी होगी।

शिष्य—गुरुदेव ! यह सब हो चुका है। एक बिनती करनी है कि आपके बैठनेवाले स्थान का यह छप्पर बहुत पुराना होकर झुक भी विशेषता से गया है। ऐसा न हो कि कहीं गिर ही पड़े।

चाणक्य—बेटा ! अभी यह पुष्ट है। डर की कोई बात नहीं। मैंने जग-त्सेठ चंदनदासजी को बुलवाया था, क्या वह आए हैं ?

शिष्य— गुरुदेव ! वह अभी-अभी पहुँचे हैं, और बाहर प्रस्तुत हैं। गुरु-वर के प्रबंध में किसी का समय थोड़े ही नष्ट होता है।

चाणक्य—बेटाजी ! समय ही जीवन है। अच्छा, सेठजी को भेजो।

शिष्य—जो आज्ञा।

(शिष्य बाहर जाता और सेठजी का प्रवेश होता है।)

सेठजी—प्रणाम गुरुवर !

चाणक्य—आयुष्मान् भव ! आइए सेठजी ! विराजिए।

सेठजी—जो आज्ञा। (बैठता है) आर्य ! मुझे क्या आज्ञा है ?

चाणक्य—सेठ महोदय ! आज एक राजकीय कार्य-विशेष के लिय आपको कष्ट दिया गया है। आशा है, इसके लिये क्षमा कीजिएगा।

सेठजी—यह आर्य क्या आज्ञा देते हैं ? मुझे कौन-सा कष्ट है !

चाणक्य—काम-काज तो सेठजी ! ठीक-ठीक चलता है न ?

सेठजी—आर्य की कृपा से सारा वनिज-व्यापार निर्विघ्न चल रहा है।

चाणक्य—आज एक निजू बात आपसे पूछनी है।

सेठजी—(आप-ही-आप) समझ पड़ता है, इस कुटिल-शिरोमणि ने महर्षि से मेरे व्यवहार का कुछ पता पा ही लिया है। (प्रकट) अहोभाग्य ! जो आज्ञा हो। कहने-भर की देर है।

चाणक्य—कोई-कोई कहते हैं कि गत महामंत्रीजी आपसे बहुत प्रसन्न रहा करते थे। क्या ऐसा ही है ?

सेठजी—आर्य की महती कृपा से मैं जगत्सेठ हूँ ही। यही पद नवनंद-साम्राज्य ने भी दे रक्खा था। कृपा का क्या पूछना ? जैसी आर्य की कृपा रहती है, वैसी ही उनकी भी थी। इसे कौन अस्वीकार कर सकता है ?

चाणक्य—प्रयोजन कहने का यह है कि जब उन्होंने दो वर्षों के लिये अपने उच्च पद से अवकाश ग्रहण करके काश्मीर-यात्रा की थी, तब उनका कुटुंब कहाँ था ? क्या आपको यह विज्ञप्ति है ?

सेठजी—यह तो दुनिया जानती है कि उन्होंने अपना कुटुंब मेरे यहाँ छोड़कर यात्रा की थी।

चाणक्य—यही पूछने का प्रयोजन था। जिस समय राजधानी पर मौर्याधिकार हुआ, तब भी वह कुटुंब आप ही के यहाँ होगा।

सेठजी—ऐसा तो था ही आर्य !

चाणक्य—अब भी क्या वह आप ही के यहाँ है ?

सेठजी—नहीं दीनबंधो ! अब वह यहाँ कहाँ है ?

चाणक्य—क्या हुआ ?

सेठजी—आर्य महोदय के इच्छानुसार मैंने उसे लौहित्य भेज दिया।

चाणक्य—मुझे इसकी सूचना क्यों न दी गई ?

सेठजी—मुझसे क्या किसी ने इस विषय में कुछ कहा था ?

चाणक्य—ऐसे अनुभवी व्यक्ति होकर आप इतना भी नहीं जानते थे कि यह राजविद्रोह का कार्य था ?

सेठजी—जिस समय वह यहाँ से पधारे थे, तब तो राजविद्रोह का कोई विषय नहीं था, वरन् इससे मेरा बड़ा मान हुआ था। पीछे जब मौर्य-साम्राज्य यहाँ स्थापित हुआ, तब मैं कुछ छिपा तो रहा नहीं। क्या आर्य समझते हैं कि मैं मित्र-द्रोह, ब्राह्मण-द्रोह तथा महर्षि-द्रोह के गर्हित पातक करके भी संसार में सज्जन कहलाने अथवा मुख दिखलाने के योग्य रहता ?

चाणक्य—आपकी सज्जनता से मुझे कोई प्रयोजन नहीं। जगत्सेठ होने से आप राजसेवक हैं। राजविद्रोह का गर्हित कार्य आपको शोभा नहीं देता। यदि आर्य कात्यायन मौर्य-अधिकार में आ जाते, तो लाखों मनुष्यों के जीने-मरने का जो यह युद्ध-कांड मचा हुआ है, वह बच जाता। लाखों सैनिकों के जोखिम का भार अब आपके ऊपर है, या नहीं ?

सेठजी—नहीं।

चाणक्य—क्यों ?

सेठजी—क्षमा कीजिएगा, यदि मुझ पर है, तो आपके ऊपर भी यही भार है। मेरे घर में उनका कुटुंब खुले-खुले रहता था। यदि यह इतना बड़ा प्रश्न था, तो आप ही ने समय पर मुझे क्यों न आज्ञा दी ? क्या मैं मिथ्या भाषण करता; और यदि करता भी, तो उसे चला कहाँ सकता था ? बलात् एक गर्हित कार्य मुझ पर लादना आपको शोभा नहीं देता आर्य !

चाणक्य—आपका कार्य राजविद्रोहात्मक था ही ; इसमें तो संदेह हो सकता नहीं। यदि मैंने अथवा मेरे अनुयायियों ने इस विषय में भूल कर दी, तो इससे आपका पातक पुण्य न हो जायगा। फिर नव साम्राज्योपार्जन से मुझ पर बहुतेरे प्रमुख कार्य-भार थे, किंतु आपके ऊपर तो यही एक भार था। आपने अपने उत्तरदायित्व का यथावत् पालन क्यों न किया ? यह प्रश्न है। वास्तव में समझ ऐसा पड़ता है कि आपने उस कुटुंब को ऐसी

युक्ति से छिपाया कि हम लोगों का उस पर ध्यान जा न सका, तथा आर्य कात्यायन की भारी लोक-प्रियता के कारण किसी ने उनकी बात न चलाई।

सेठजी—आर्य के समकक्ष वादकर्ता अथवा वैसा प्रवीण मैं कैसे हो सकता हूँ? आप साम्राज्याधिकारी होने से मुझ पर कोई भी दोष आरोपित कर सकते हैं, अथवा विना ऐसा किए भी जिस गति को चाहें, पहुँचा सकते हैं। सारी व्यवस्था सत्य-ही-सत्य आपसे निवेदित कर ही चुका हूँ; अब जो न्याय-संगत हो, आज्ञा दे दीजिए। मैं तो सर्वस्व-हानि अथवा प्राण-संकट से भी मित्र-द्रोह का पातक करनेवालों में नहीं हूँ। राजा तो किसी का धन अथवा प्राण ले सकता है। इधर मैं एक साधारण व्यवसायी होकर किसी पाप-पूर्ण मार्ग का पथिक कैसे हो सकता था?

चाणक्य— तो आप सर्वस्व और प्राण खोकर भी आर्य कात्यायन का अहित न करते क्या?

सेठजी—मैं आर्य कात्यायन के अहित को तृण-तुल्य मानता, किंतु मित्र-द्रोह और मैं! असंभव और सौ बार असंभव।

चाणक्य—सेठजी, क्या आपने यही निश्चय किया है?

सेठजी—निश्चय का क्या प्रश्न है? मैंने तो आर्य! इस प्रश्न की महत्ता समझे विना साधारण रीति पर स्वभावशः मित्र-द्रोह से बचना अपना धर्म समझा था। यदि आपकी आज्ञा शिरोधार्य करके अपने मत से फिरना भी चाहूँ, तो उसके लिये अब समय कहाँ है? होना था, सो हो ही चुका। अब तो मैं हूँ, और आर्य से कृपा की भिक्षा है।

चाणक्य—क्या प्रचंड राजद्रोहियों पर कृपा करके कोई राज्य चार दिन भी चल सकता है?

सेठजी—नहीं चल सकता, तो साँप निकल जा चुका, अब लीक पीटते रहिए। आर्य! मुझ निर्दोष को चाहे जो दंड दे दीजिए। आर्य-प्रवर का कुटुंब आपको अप्राप्य हो चुका है।

चाणक्य—ऐसा दर्प-पूर्ण वचन कहने का साहस न कीजिए सेठजी! जिसने परम साधारण पद से चुटकी बजाते हुए साम्राज्य उपार्जित

कर लिया, वह चंद्रगुप्त आर्य कात्यायन के-से पचास शत्रुओं को पद-दलित कर डालने में अवश्य सक्षम होगा। आप अपने को समझते क्या हैं ? !

सेठजी—मैं तो अपने को आपका सेवक मानता हूँ आर्य ! किंतु पातकी सेवक नहीं। यदि विना किसी पुण्यात्मा को दंड दिए मौर्य-साम्राज्य स्थापित नहीं रह सकता, तो धिक्कार है ऐसे साम्राज्य और उसके संचालकों को !

चाणक्य—अब तो आप युद्धोत्साह पर आ गए सेठजी ! क्या नहीं जानते कि बात किससे हो रही है ?

सेठजी—बात हो रही है कल के एक हृदय-हीन भिक्षुक तथा आज के निर्दय घातक से। जो कुछ करना हो, कर लीजिए आर्य ! एक वणिक्पुत्र आप-जैसों से डरनेवाला नहीं। अभी कल तक हमारे महाविद्यालय में अध्यापक-मात्र थे, और आज महामंत्री क्या हो गए, पृथ्वी पर पैर ही नहीं रखते। मैं ऐसे आततायियों के सम्मुख उस निष्पाप महर्षि के अर्थ प्राण देना भी कीर्तिकर तथा स्वर्ग का सीधा मार्ग मानता हूँ।

चाणक्य—धन्य है सेठजी ! आपके मित्र-प्रेम तथा साहस को। भिक्षुक तो मैं आज भी हूँ, तथापि एक राजद्रोही को दंड दिए विना नहीं रह सकता। इस समय मैं आपका सर्वस्व राज्य-निरीक्षण में लेता हूँ, तथा आपको सकुटुंब कारागार भेज़ता हूँ। यदि आपने मेरा निजू अपमान न किया होता, तो राजनीतिक अभियोग के कारण मैं ही राजाज्ञा भी दे देता, किंतु अब इसका निर्णय महादंडपाशिकजी अथवा स्वयं सम्राट् महोदय करेंगे। क्रोधित होने पर मैं कोई आज्ञा नहीं देता।

सेठजी—आर्यप्रवर ! आपके क्रोधाभाव तथा धैर्य शत मुख से श्लाघ्य हैं। मैं सच्चा अभियुक्त हूँ, और जान-बूझकर मैंने आर्य कात्यायन के कुटुंब की रक्षा की, तथा युक्ति-पूर्वक उसे छिपाए रक्खा। कुछ भी होता, मैं यथा-साध्य प्राण-पण से उसका बचाव अवश्य करता। अब आपके अधिकार में हूँ; जो दंड चाहिए, सुख से दीजिए। अपने लिये तो सारी दुनिया मरती है। मैं मित्र के लिये प्राण दूँगा, सो भी सुख से।

चाणक्य—आप सच्चे सज्जन और प्रेमी हैं। (कुछ उच्च स्वर से) अरे कौन है ? (एक प्रतीहारी का प्रवेश) देखो, बाहर से दंडपाशाधिकरण को बुलाओ।

प्रतीहारी—जो आज्ञा आर्य ! (प्रतीहारी का प्रस्थान तथा दंडपाशाधिकरण का प्रवेश)

दंडपाशाधिकरण—जय-जय आर्य !

चाणक्य—यह सेठ चंदनदासजी यहाँ विराज रहे हैं। मुझे बड़े दुःख के साथ आज्ञा देनी पड़ती है कि इन्हें कारागार में पूर्ण प्रबंध के साथ रक्खो, किंतु कष्ट लेश-मात्र न होने पाए। इनकी सुविधा को सारी सामग्री प्रस्तुत रहे। आप सकुटुंब कारागार में रहेंगे। अक्षपटलाधिकृत की सेवा में मेरी यह आज्ञा भेजी जाय कि इनका सारा ऋण, धन तथा व्यापार राजकीय निरीक्षण में रहे। उचित समय पर इनके विषय में सम्राट् की आज्ञा होगी। (सेठजी से) आप अब इनके साथ पधारिए।

सेठजी—जो आज्ञा आर्य ! (दोनो का प्रस्थान)

अनंतर चाणक्य यों सोचने लगे—धन्य चंदनदासजी ! तुम इस कलि में अमूल्य रत्न हो। धन और शरीर दोनो तुम एक मित्र के लिये तृणवत् छोड़ रहे हो। ऐसा परोपकारी इस स्वार्थी संसार में कहाँ मिलेगा ? तुम्हारी उपमा शिवि, दधीचि आदि से दी जा सकती है। मुझे तुम क्या मिले, स्वयं महर्षि कात्यायन मिल गए। जब उनके लिये तुम सभी कुछ छोड़ रहे हो, तब वह भी तुम्हारे लिये क्या न करेंगे ? तुम दोनो शत बार धन्य हो !

चाणक्य—(कुछ उच्च स्वर से) अरे चलो। (प्रतीहारी का प्रवेश) मेरे निजू अमात्य को तो बुलाना। (प्रतीहारी का प्रस्थान। निजू अमात्य का प्रवेश) देखिए, मंत्री जी ! मैं एक पत्र बड़े ही सुंदर अक्षरों में लिखवाना चाहता हूँ। लिखता तो मैं ही, किंतु मेरे अक्षर अच्छे नहीं बनते। क्या किसी परम प्रवीण लेखक को बतला सकते हो ?

निजू अमात्य—आर्य ! शकटदास प्रथम कायस्थ से श्रेष्ठतर लेखक पाटलिपुत्र-भर में तो मिलेगा नहीं।

चाणक्य—तब फिर उन्हीं से इस प्रकार का पत्र मेरी आज्ञा के अनुसार लिखवा मँगाओ—

पत्र

किसी का लिखा कोई स्वयं ध्यान-पूर्वक बाँचे। जब तक जिसका जो उच्च पद दीर्घ काल से चला आता है, वह उसे निश्चय-पूर्वक न मिलेगा, तब तक कोई साम्राज्य दृढ़ता-पूर्वक जम नहीं सकता। कहने को तो सैकड़ों कारण होते हैं, किंतु वास्तविक बात केवल प्रवीण राजा ही पकड़ सकते हैं। अति शीघ्र प्रबंध न होने से राज्य-परिवर्तन-पर्यंत असंभव नहीं, दृढ़ विश्वासार्थ मुद्रा अपने नाम की इसी के साथ भेजी जाती है। सावधान और फिर सावधान! एक चातुर्य-पूर्ण कार्य से सौ बलाएँ टलती और एक भारी चूक से सहस्र आती हैं।

(निजू अमात्य आज्ञा-पालनार्थ जाता है।)

(आप-ही-आप) इसी पत्र से विजय लेनी है। (कुछ उच्च स्वर से) अरे, चलो! (प्रतीहारी का प्रवेश) ज़रा महाबलाधिकृत को तो बुलाना। बाहर होंगे।

प्रतीहारी—जो आज्ञा, आर्य। (प्रतीहारी का प्रस्थान। महाबलाधिकृत का प्रवेश)

चाणक्य—आर्य! विराजिए; यह भद्रासन है।

महाबलाधिकृत—(बैठता हुआ) बड़ी कृपा आर्य! आज्ञा हो।

चाणक्य—आर्य! आजकल युद्ध कैसा चल रहा है?

महाबलाधिकृत—आर्य! महर्षि कात्यायन ने उग्र रूप धारण करके दो ओर से अपने साम्राज्य पर आक्रमण किया है। दोनो ओर प्रचंड संग्राम हो रहा है। सैकड़ों योद्धा नित्यप्रति दोनो पक्षों के हताहत होते हैं। अभी पैर पीछे किसी ओर का नहीं पड़ा है। मैदानों में लड़ाई न होकर लोग आड़ पकड़-पकड़कर लड़ते हैं। युद्ध तो उत्कट है, किंतु प्रधानता दावँ-पेचों की है, सम्मुख रण की नहीं।

चाणक्य—एक विशेष मंत्र मुझे भी समझाना है।

महाबलाधिकृत—जो आज्ञा।

चाणक्य—अभी बाहर निकलकर युद्ध करने का प्रयत्न अपनी ओर से भी न होकर एक-दो मास इसी प्रकार चलने दीजिए। मैं नहीं चाहता कि भारतीयों का इस गृह-कलह में विशेष जन-विनाश हो। युक्तियाँ भी खेल रहा हूँ। यदि उनमें से कोई चल गई, तो बिना लड़े ही काम बन जायगा। आपसे केवल इतना चाहता हूँ कि जिस ओर स्वयं आर्य कात्यायन हों, उधर भड़भड़ तो ऐसी मचाइएगा, मानो आक्रमण करने ही वाले हैं, किंतु प्रबल धावा वास्तव में न कीजिएगा। भारी राजनीतिज्ञ होने के अतिरिक्त महर्षि प्रचंड युद्धकर्ता भी हैं। चाहे शरीर तिल-तिल कट जाय, तथापि पग पीछे न देंगे। उन्हें कोई सजीव नहीं पकड़ सकता, मारकर चाहे ले भी आए। इधर न तो मैं उनकी मौत सह सकता हूँ, न सम्राट् ही। अतएव उधर भारी आक्रमण ही न हो। यथासाध्य महाराजा विशालाक्ष और मुख्यनवा कुमार सबलनंद को सजीव अथच अक्षत पकड़ने का प्रयत्न हो। वे किसी भाँति सक्षत न होने पाएँ।

महाबलाधिकृत—आर्य! उन शत्रुओं पर इतनी कृपा का क्या कारण है?

चाणक्य—उनको शत्रु समझना भूल है; वे केवल भूले हुए अपने भाई हैं। युद्ध भारतीयों को विदेशी यवनों आदि से करना चाहिए, अपने ही भाइयों से नहीं। मैं उन्हें समझा-बुझाकर सुमार्ग पर लाऊँगा।

महाबलाधिकृत—आर्य का यह विचार बड़ा ही उच्च तथा गृहणीय है।

चाणक्य—तब स्मरण रहे कि मैं वास्तव में कुमार सबलनंद को बंदी-रूप में अपने अधिकार में चाहता हूँ, मरा अथवा सक्षत नहीं। इस इच्छा का पालन गुप्तरूपेण, किंतु पूर्ण योग्यता के साथ शीघ्रातिशीघ्र हो।

महाबलाधिकृत—जो आज्ञा आर्य!

इस प्रकार वार्तालाप करके प्रणामानंतर महासेनापति महोदय बाहर जाते हैं, तथा प्रतीहारी प्रवेश करके निजू अमात्य के बाहर आने की सूचना देता और आज्ञा पाकर उन्हें भेजता है।

निजू अमात्य—आर्य! शकटदास कायस्थ का लिखा हुआ यह पत्र है।

चाणक्य—(पत्र लेकर) आर्य ! कैसे सुंदर अक्षर हैं ! (पत्र को अपने मुख्य पत्रों में रखकर) मैं शकटदास कायस्थ को देखना चाहता हूँ।

निजू अमात्य—बाहर ही वह भी प्रस्तुत हैं आर्य ! अभी भेजता हूँ । (अमात्य का बाहर जाना और शकटदास का प्रवेश)

शकटदास—(प्रणाम करके) आज्ञा आर्य !

चाणक्य—विराजिए, शकटदासजी ! यह आसन है ।

शकटदास—(बैठकर) अहोभाग्य कि आज आर्य के अलभ्य दर्शन सुगमतया प्राप्त हो गए ।

चाणक्य—आप हैं तो अपने साम्राज्य के प्रथम कायस्थ, किंतु नवनंद-काल की राजभक्ति क्यों नहीं छूटती ? आपका इस सम्राज्य ने कौन-सा अपकार किया है ?

शकटदास—आर्य ! यह आज्ञा मेरी समझ में नहीं आ रही है ।

चाणक्य—अच्छा, प्रत्यक्ष सुनिए कि जब सेठ चंदनदासजी की संरक्षकता में महामात्य कात्यायन का कुटुंब लौहित्य गया, तब उसे छिपे-छिपे निकालने में क्या आपकी गुप्त सहायता न थी ? सत्य-ही-सत्य कहिए ।

शकटदास—इस विषय पर तो आर्य के सम्मुख प्रमाणों का भी समुचित संग्रह हो चुका है; यदि मैं नाहीं करूँ, तो भी आर्य माने कब जाते हैं ?

चाणक्य—मैं मानूँ या न मानूँ; आप इस साम्राज्य के एक उच्च अधिकारी हैं। पहले आप ही स्वीकार अथवा अस्वीकार कीजिए न।

शकटदास—आर्य का कथन है सत्य, किंतु मैं पूछता हूँ कि जब इतने दिनों तक मैंने आर्य की भी सेवा की है, तब यदि कोई आत्मीय आज्ञा दें, तो क्या मेरा यह धर्म है कि नाहीं कर दूँ ?

चाणक्य—साधारण आज्ञा-पालन आवश्यक है, किंतु राजविद्रोहात्मक नहीं। आप वास्तव में मेरे सेवक न होकर राज्य के हैं। उसीसे प्रतिकूलता करने का धर्म किसी सेवक का नहीं है।

शकटदास—मैंने कोई राजविद्रोह नहीं किया। महामंत्री कात्यायन

के कुटुंब के पकड़ने की कोई राजाज्ञा न थी। अन्य प्रजागण की भाँति वे लोग भी खुले-खुले नगर में रहते थे, कुछ छिपकर नहीं।

चाणक्य—फिर गए छिपकर क्यों ?

शकटदास—यह सभी को ज्ञात था कि महर्षि कात्यायन नवनंदों का पक्ष उठाने को थे। इसी भय से उनके कुटुंब को राजकीय अवरोध का संदेह था, जिससे वह यहाँ से छिपकर गया।

चाणक्य—जब इतना जानते थे, तब राज्य के प्रतिकूल हुए कि नहीं ?

शकटदास—एक प्रकार से हो अवश्य गया।

चाणक्य—(कुछ उच्च स्वर से) अरे, चलो। (प्रतीहारी का प्रवेश) महादंडपाशिक से कहो कि शकटदासजी को कारागार में रक्खें। इनके विषय में विचारानंतर आज्ञा होगी। (शकटदास से) अब आप इन्हीं के साथ जाइए।

शकटदास—जो आज्ञा। (प्रणाम करके प्रतीहारी के साथ प्रस्थान।)

(स) महामंत्री कात्यायन का शिविर

महामंत्री और विशालाक्ष बैठे हुए मंत्र कर रहे हैं।

विशालाक्ष—आर्य ! हर्ष का विषय है कि आपका कुटुंब सकुशल यहाँ पहुँच गया, किंतु सुना कि बेचारे सेठ चंदनदास विपत्ति में पड़ गए हैं। इसके विषय में क्या किया जाए ?

कात्यायन—है तो बड़े ही दुःख की बात; किंतु सिवा युद्ध चलाने के इस काल क्या कर सकता हूँ ? युक्ति-पूर्वक उन्हें निकाल लाने का भी प्रबंध सोच रहा हूँ।

विशालाक्ष—आपकी सारी सामग्री तो ठीक-ठीक मिल गई न ?

कात्यायन—सामग्री तो प्राप्त हो गई है, किंतु एक अंगुलीयक में मेरा नाम पन्ना में खुदा था, जिससे वह एक प्रकार से मेरी मुद्रा थी। वह मुद्रा एक भिक्षुक के हाथ में पड़ गई, और संभव है, चाणक्य को मिल चुकी हो। तत्संबंधिनी सारी परिस्थिति समझकर मेरा विचार कहता है कि वह भिक्षुक चाणक्य का चर था।

विशालाक्ष—जब आपको यह बात पहले ही से ज्ञात है, तब इससे भय ही क्या ? जो होगा, देखा जायगा। (प्रतीहारी का प्रवेश।)

प्रतीहारी—आर्य ! शकटदासजी कायस्थ बाहर प्रस्तुत हैं।

कात्यायन—उनके विषय में तो सुन पड़ा था कि वध-दंड की आज्ञा हो गई थी। क्या कोई धोखा तो तुमको नहीं हुआ है ?

प्रतीहारी—नहीं आर्य ! वह प्रत्यक्ष बाहर प्रस्तुत हैं।

कात्यायन—तब फिर अभी भेजो। (प्रतीहारी का प्रस्थान, शकटदास का प्रवेश) (शकटदास से गले मिलकर) तुम्हें पाकर तो मैं बहुत ही प्रसन्न हुआ, विशेषतया तुम्हारे मृत्यु-मुख से बच जाने के कारण। कहो, बचे क्योंकर ? चाणक्य ने तुम्हें छोड़ा कैसे ? विराजो।

शकटदास—(प्रणामानंतर बैठकर) आर्य ! मुझे तो सूली देने को दो घातक लिए जा रहे थे कि मित्र सिद्धगुप्त ने तीन-चार सेवकों की सहायता से छुड़ाकर यहाँ पहुँचाया है।

कात्यायन—उनका आपसे प्रेम कब से था ?

शकटदास—यही तो आश्चर्य है। बड़ा ही सज्जन है। मुझसे साधारण चीन्हा-जानी-मात्र थी, सो भी दो ही तीन मास की। कहते ही हैं कि जब तक संसार में सज्जन प्रस्तुत हैं, तब तक कोई मित्र-हीन नहीं कहा जा सकता। मित्रता आदि कुछ भी न थी। भलाई इसी का नाम है। निष्कारण सहायक हुए।

कात्यायन—जिन लोगों ने आपको छुड़ाने में उनकी सहायता की थी, वे कहाँ रहे ?

शकटदास—वे तो पाटलिपुत्र ही में हैं; उन्हें जानता कौन है ?

कात्यायन—आप आए यहाँ किस मार्ग से ?

शकटदास—आया तो साधारण मार्ग से। आश्चर्य यह भी है कि मार्ग में कोई रोक-टोक न हुई।

कात्यायन—ये सब धोखे की बातें हैं। शत्रु सिद्धगुप्त के द्वारा हमारे यहाँ के गुप्त भेद जानना चाहता है। तुम्हें मारने की उसकी इच्छा न थी,

वरन् इसी व्याज से अपना एक विश्वस्त चर कहने-भर को मेरा हितू बनाना चाहता है, जिससे यहाँ उसके भेद लग सकें। (कुछ उच्च स्वर में) अरे कौन है ? (प्रतीहारी का प्रवेश) (जाओ, शकटदासजी के साथी सिद्ध-गुप्तजी को भेजो।)

प्रतीहारी—जो आज्ञा आर्य ! (प्रतीहारी का प्रस्थान, सिद्धगुप्त का प्रवेश)

कात्यायन—सिद्धगुप्तजी ! आइए, विराजिए ; यह आसन है।

सिद्धगुप्त—(प्रणामानंतर बैठकर) आर्य ! मैं शकटदासजी को सकुशल आपकी सेवा में उपस्थित कर सकने से बहुत प्रसन्न हूँ।

कात्यायन—इस कृपा के लिये आपको विशेष धन्यवाद देता हूँ ! क्या मैं पूछ सकता हूँ कि अब आपकी क्या इच्छा है ?

सिद्धगुप्त—आर्य चाणक्य का ऐसा प्रचंड अपकार करके मैं अब पाटलिपुत्र में तो रह सकता नहीं, अतएव यदि आज्ञा हो जाय, तो अब आर्य ही की सेवा में बना रहूँ।

विशालाक्ष—जिन साथियों ने इन्हें छुड़ाने में आपकी सहायता की थी, उन्हें वहाँ रहने में भय क्यों नहीं है ?

सिद्धगुप्त—उनको वहाँ कौन खोजता फिरेगा ?

कात्यायन—समझ पड़ता है, आर्य चाणक्य के प्रबंध को आप बहुत अयोग्य समझते हैं। क्या मैं जान सकता हूँ कि शकटदासजी पर कृपा करने में आपके लिये क्या कोई विशेष कारण था ?

सिद्धगुप्त—उनको मैं कुछ दिनों से जानता था। एक सज्जन की ऐसी दुर्दशा मुझसे देखी न गई।

विशालाक्ष—इतना तो आपको ज्ञात ही होगा कि इस राजविद्रोह से वहाँ आप स्वयं वध-दंड के भागी हो गए हैं।

सिद्धगुप्त—इसी कारण से तो मैं वहाँ पलटकर जाना नहीं चाहता।

विशालाक्ष—आपका घर-द्वार वहाँ होगा ही।

सिद्धगुप्त—ऐसा अवश्य है, वरन् और भी बहुतेरी संपत्ति है।

विशालाक्ष—जब आपको यह बात पहले ही से ज्ञात है, तब इससे भय ही क्या ? जो होगा, देखा जायगा। (प्रतीहारी का प्रवेश।)

प्रतीहारी—आर्य ! शकटदासजी कायस्थ बाहर प्रस्तुत हैं।

कात्यायन—उनके विषय में तो सुन पड़ा था कि वध-दंड की आज्ञा हो गई थी। क्या कोई धोखा तो तुमको नहीं हुआ है ?

प्रतीहारी—नहीं आर्य ! वह प्रत्यक्ष बाहर प्रस्तुत हैं।

कात्यायन—तब फिर अभी भेजो। (प्रतीहारी का प्रस्थान, शकटदास का प्रवेश) (शकटदास से गले मिलकर) तुम्हें पाकर तो मैं बहुत ही प्रसन्न हुआ, विशेषतया तुम्हारे मृत्यु-मुख से बच जाने के कारण। कहो, बचे क्योंकर ? चाणक्य ने तुम्हें छोड़ा कैसे ? विराजो।

शकटदास—(प्रणामानंतर बैठकर) आर्य ! मुझे तो सूली देने को दो घातक लिए जा रहे थे कि मित्र सिद्धगुप्त ने तीन-चार सेवकों की सहायता से छुड़ाकर यहाँ पहुँचाया है।

कात्यायन—उनका आपसे प्रेम कब से था ?

शकटदास—यही तो आश्चर्य है। बड़ा ही सज्जन है। मुझसे साधारण चीन्हा-जानी-मात्र थी, सो भी दो ही तीन मास की। कहते ही हैं कि जब तक संसार में सज्जन प्रस्तुत हैं, तब तक कोई मित्र-हीन नहीं कहा जा सकता। मित्रता आदि कुछ भी न थी। भलाई इसी का नाम है। निष्कारण सहायक हुए।

कात्यायन—जिन लोगों ने आपको छुड़ाने में उनकी सहायता की थी, वे कहाँ रहे ?

शकटदास—वे तो पाटलिपुत्र ही में हैं; उन्हें जानता कौन है ?

कात्यायन—आप आए यहाँ किस मार्ग से ?

शकटदास—आया तो साधारण मार्ग से। आश्चर्य यह भी है कि मार्ग में कोई रोक-टोक न हुई।

कात्यायन—ये सब धोखे की बातें हैं। शत्रु सिद्धगुप्त के द्वारा हमारे यहाँ के गुप्त भेद जानना चाहता है। तुम्हें मारने की उसकी इच्छा न थी,

वरन् इसी व्याज से अपना एक विश्वस्त चर कहने-भर को मेरा हितू बनाना चाहता है, जिससे यहाँ उसके भेद लग सकें। (कुछ उच्च स्वर में) अरे कौन है ? (प्रतीहारी का प्रवेश) (जाओ, शकटदासजी के साथी सिद्ध-गुप्तजी को भेजो।)

प्रतीहारी—जो आज्ञा आर्य ! (प्रतीहारी का प्रस्थान, सिद्धगुप्त का प्रवेश)

कात्यायन—सिद्धगुप्तजी ! आइए, विराजिए ; यह आसन है।

सिद्धगुप्त—(प्रणामानंतर बैठकर) आर्य ! मैं शकटदासजी को सकुशल आपकी सेवा में उपस्थित कर सकने से बहुत प्रसन्न हूँ।

कात्यायन—इस कृपा के लिये आपको विशेष धन्यवाद देता हूँ ! क्या मैं पूछ सकता हूँ कि अब आपकी क्या इच्छा है ?

सिद्धगुप्त—आर्य चाणक्य का ऐसा प्रचंड अपकार करके मैं अब पाटलिपुत्र में तो रह सकता नहीं, अतएव यदि आज्ञा हो जाय, तो अब आर्य ही की सेवा में बना रहूँ।

विशालाक्ष—जिन साथियों ने इन्हें छुड़ाने में आपकी सहायता की थी, उन्हें वहाँ रहने में भय क्यों नहीं है ?

सिद्धगुप्त—उनको वहाँ कौन खोजता फिरेगा ?

कात्यायन—समझ पड़ता है, आर्य चाणक्य के प्रबंध को आप बहुत अयोग्य समझते हैं। क्या मैं जान सकता हूँ कि शकटदासजी पर कृपा करने में आपके लिये क्या कोई विशेष कारण था ?

सिद्धगुप्त—उनको मैं कुछ दिनों से जानता था। एक सज्जन की ऐसी दुर्दशा मुझसे देखी न गई।

विशालाक्ष—इतना तो आपको ज्ञात ही होगा कि इस राजविद्रोह से वहाँ आप स्वयं वध-दंड के भागी हो गए हैं।

सिद्धगुप्त—इसी कारण से तो मैं वहाँ पलटकर जाना नहीं चाहता।

विशालाक्ष—आपका घर-द्वार वहाँ होगा ही।

सिद्धगुप्त—ऐसा अवश्य है, वरन् और भी बहुतेरी संपत्ति है।

कात्यायन—यह सब राज्य द्वारा छीनी जा सकती है।

सिद्धगुप्त—उससे अधिक क्या यहाँ न मिल जायगी ?

कात्यायन—इस ओर के किसी से विना कोई निबंध किए इतना बड़ा जोखिम आपने निष्कारण उठाया, ऐसा मैं नहीं मान सकता। अतएव शत्रु का गुप्तचर मानकर आपको बंदी बनाता हूँ। आपके विषय में आज्ञा पीछे से होगी।

सिद्धगुप्त—क्या इतनी बड़ी भलाई का मुझे यही परिणाम मिल रहा है ?

कात्यायन—कृपया निस्तब्ध रहिए। (कुछ उच्च स्वर से) इधर आओ। (प्रतीहारी का प्रवेश) अभी दो दंडपाशिकों को बुलाओ। (प्रतीहारी का प्रस्थान, दो दंडपाशिकों का प्रवेश) इस सिद्धगुप्त को शत्रु का चर मानकर कठिन कारागार में रक्खो। स्वच्छंद न होने पाए। (सिद्धगुप्त का दोनो दंडपाशिकों के साथ प्रस्थान) (विशालाक्ष से) महाराजा महोदय ! मुझे समझ पड़ता है, मुद्रा के संबंध में भी शत्रु का कोई वार चलेगा।

विशालाक्ष—समझ यही पड़ता है।

कात्यायन—(शकटदास से) आपसे वहाँ कोई संदिग्ध लेख तो नहीं लिखाया गया था। भली भाँति स्मरण करके कहिए।

शकटदास—और तो कुछ संदिग्ध विषय लिखना नहीं पड़ा, केवल एक गुप्त पत्र विना सिरनामे के लिखा गया था। (उसका विषय अक्षरशः बतलाता है।)

विशालाक्ष—इसका प्रयोजन तो मुद्रा से भी संबद्ध दिखता है।

कात्यायन—अवश्य कोई गूढ़ चाल खेली जा रही है।

प्रतीहारी—(प्रवेश करके) आर्य ही की मुद्रा के साथ एक पत्र पकड़ा गया है। क्या आज्ञा है ?

कात्यायन—उसे अभी यहीं लाओ। (प्रतिहारी का प्रस्थान, पत्र-वाहक का प्रवेश) तुम्हारे पास यह पत्र और मुद्रा कैसे हैं ?

पत्र-वाहक—(पत्र और मुद्रा देकर) आर्य ! इन्हें लिए हुए आप ही

के आज्ञानुसार मैं आर्य चाणक्य की सेवा में जा रहा था।

विशालाक्ष—इनसे क्या तुम्हारा साक्षात्कार हुआ था?

पत्र-वाहक—नहीं, वरन् इन्हीं के विश्वासी मित्र सिद्धगुप्त ने इनका संदेश इसी पत्र और मुद्रा के साथ मुझे दिया था।

विशालाक्ष—कब?

पत्र-वाहक—आज ही।

कात्यायन—समझ पड़ता है, यहाँ पहुँचने के पूर्व ही वह महाशय मेरे मित्र हो चुके थे।

शकटदास—यह पत्र-वाहक तो आर्य! उन्हीं दो-तीन लोगों में से था जिन्होंने घातकों से मुझे छुड़ाने में सिद्धगुप्त की सहायता की थी।

विशालाक्ष—तब तो आर्य का सिद्धगुप्त-संबंधी विचार पूर्णतया समर्थित हो जाता है।

कात्यायन—(कुछ उच्च स्वर से) अरे, यहाँ आओ। (प्रतीहारी का प्रवेश) दो दंडपाशिकों को भेजो। (प्रतीहारी का प्रस्थान, दो दंड-पाशिकों का प्रवेश) देखो, इस चर को भी सावधानी के साथ सिद्धगुप्त से पृथक् कठिन कारागार में चैतन्यता-पूर्वक बंद रक्खो। (दंडपाशिकों का पत्र-वाहक के साथ प्रस्थान।)

विशालाक्ष—जो-जो बातें आर्य! आप सोचते थे, वे सब पूरी हो गईं।

कात्यायन—ऐसा ही हुआ महाराजा महोदय! कृपया कुमार से समझाकर कह दीजिएगा कि शत्रु जब मुझे अपने से मिला हुआ दिखलाने का प्रयत्न कर रहा है, तब हम तीनो में से किसी को या सबको पकड़ने का भी डौल डालेगा ही। अतएव जो इस ओर के संग्राम के तीन विभाग करके हम लोगों ने एक-एक हम तीनो में से एक-एक के अधिकार में रक्खा है, वह प्रबंध तो बना रहे, किंतु हम तीनो को बहुत ही चैतन्य रहना चाहिए कि कहीं पकड़ न लिए जाएँ। सेना के आगे बढ़कर हम लोगों को अपने को भी विशेष जोखिम में न डालना चाहिए, जिसमें किसी प्रकार का आत्मीय प्रश्न उपस्थित न हो जाय।

विशालाक्ष—विचार आर्य का बहुत ही उचित है। मैं तो समझा ही दूंगा, किंतु आप भी स्वयं उनसे ध्यान-पूर्वक वार्तालाप कर लीजिएगा, क्योंकि मामला बहुत भारी है, और बाल-वय के कारण अभी उनमें साहस विशेष है, जिससे जोखम संभव है।

विशालाक्ष—विचार आर्य का बहुत ही उचित है। मैं तो समझा ही दूँगा, किंतु आप भी स्वयं उनसे ध्यान-पूर्वक वार्तालाप कर लीजिएगा, क्योंकि मामला बहुत भारी है, और बाल-वय के कारण अभी उनमें साहस विशेष है, जिससे जोखम संभव है।

पंचदश परिच्छेद

संधि

जब से सम्राज्ञी दुर्धरा और हेलेन का समागम हुआ, तब से वे दोनो बराबर पूर्ण प्रेम के साथ रहती रहीं, तथा योगिनी सुनंदा से भी उनकी प्रसन्नता-गर्भित भेंटें प्रायः हुआ करती थीं। एक दिन दोनो सम्राज्ञी आपस में यों वार्तालाप कर रही थीं—

दुर्धरा—बहन हेलेन! जब से आपका यहाँ आना हुआ, तब से समय अधिक आनंद-पूर्वक बीतने लगा है। पहले सिवा सुनंदादेवी के और कोई समकक्ष महिला की संगति अप्राप्य थी। आपके पधारने से यह न्यूनता भी सुन्दरता के साथ पूर्ण हो गई है।

हेलेन—जीजी! यह आपकी विशेष कृपा है कि मुझ मूर्खा के संग का इतना मान करती हैं। उदारता इसी का नाम है।

दुर्धरा—अब तो आप आर्य-भाषा अच्छी बोलने लगी हैं।

हेलेन—इसका अभ्यास भी किया है जीजी! जब से लौहित्य की ओर से लड़ाई छिड़ी है, तब से हम लोगों की बाहरी सैर समाप्त-सी हो गई है।

दुर्धरा—आपके साथ प्रयाग, काशी, अयोध्या, मथुरा, कुरुक्षेत्र, गंगोत्तरी, शूकर-क्षेत्र, नर्मदा, कन्याकुमारी, पुरी आदि सब देख चुकी हूँ, तथा समुद्र के स्नानों से विशेष आनंद प्राप्त हुआ है। गंधमादन की भी सैर हो चुकी है। अब कैलाश-दर्शन की लालसा-मात्र शेष रह गई है।

हेलेन—यदि युद्ध न छिड़ गया होता, तो इस वर्ष वहाँ भी जाना हो जाता। आर्यपुत्र को भी सैर करने की इच्छा रहती है।

दुर्धरा—उन्हें तो इसका बड़ा चोप रहता है। भारत में दर्शनीय

पदार्थ हैं बहुतेरे। तुम्हें तो बहन, प्राकृत पुराण सुनने का भी बड़ा चाव है।

हेलेन—उनमें कथाएँ भी अच्छी तथा रोचक हैं, केवल साहित्यिक गौरव की कमी-सी रह जाती है। हमारे यहाँ भी इस प्रकार की बहुतेरी कथाएँ चलती हैं। यहाँ के देवतों आदि के विवरण भी हमारे यहाँ-वालों से बहुत कुछ मिलते हैं।

इस प्रकार बातें हो ही रही थीं कि सम्राट् चंद्रगुप्त भी वहाँ पधारकर वार्तालाप में सम्मिलित हो गए—

चंद्रगुप्त—अहा, आप दोनो आज साथ ही मिल गईं!

दुर्धरा—हम दोनो तो प्रायः साथ बैठा करती हैं। आज ही पर क्या बात है? दो-तीन बार आपने भी देखा होगा।

चंद्रगुप्त—यहाँ पाटलिपुत्र में आपको अच्छा लगता है न? आप दोनो के देश स्वास्थ्य के विचार से तो यहाँ से श्रेष्ठतर हैं।

हेलेन—है तो ऐसा ही, किंतु अभी हम लोगों की अवस्था ही क्या है, जल-वायु के कारण कोई शारीरिक कष्ट नहीं होता। जब से आर्य कात्यायन ने युद्ध छेड़ने का झमेला उठाया है, तब से आप हमारे साथ किसी स्थान को सैर करने नहीं जा सके हैं। कब तक चल सकिएगा?

चंद्रगुप्त—महीने-दो महीनों में युद्ध समाप्त हो ही जायगा, तब जहाँ चाहोगी, फिर ले चलूँगा।

दुर्धरा—आप तो आर्यपुत्र! कोई विशेष कार्य करते नहीं, सारा प्रबंध बहुत करके गुरुदेव के मत्थे रहता है।

चंद्रगुप्त—ऐसा भाव प्रिये! तुम्हारा कैसे हो गया? राजा को सदैव सजग तथा तत्पर रहना चाहिए। राजकाज टालने का स्वभाव हम लोगों के लिये बहुत बुरा है। जो राजे ऐसा करते हैं, उन्हीं के तो राज्य डग-मगाने लगते हैं।

हेलेन—कार्य करते तो आप भी हैं, किंतु विशेष कार्य-भार गुरुदेव पर भी रहता हुआ दिखता है।

चंद्रगुप्त—वह विना मुझसे पूछे कोई भी बड़ा काम नहीं करते।

साधारण बातों के लिये महामंत्री बने बनाए हैं। यदि मैं ही सब काम-काज करने लगूँ, तो मंत्रिमंडल तथा इतर अधिकारियों की क्या आवश्यकता रह जाय ? राजों को जाने सब कुछ रहना चाहिए, किंतु यदि छोटी-छोटी बातों को भी वे ही करने लगें, तो इतरों को अपने ऊपर विश्वासाभाव का संदेह होने लगे, जिससे उनकी कार्य-दक्षता में भी न्यूनता आ जाय।

दुर्धरा—फिर दंडपाश तथा चर-विभागों से जो पत्र नित्य आते हैं, उन्हें आप ध्यान-पूर्वक सुनते ही हैं। उनसे बहुत कुछ पता पड़ता रहता होगा।

चंद्रगुप्त—इसके अतिरिक्त प्रत्येक मंत्री से प्रति सप्ताह दो बार अवश्य मिलता हूँ, तथा मंत्रिमंडल की बैठकों में प्रायः सदैव सम्मिलित रहता हूँ। साम्राज्य का ऐसा कोई बड़ा मामला नहीं, जो मुझे अवगत न रहता हो।

हेलेन—ऐसा ही होगा, हम लोगों को आपकी नित्य की काम-काजू बातों का पूरा पता भी तो नहीं रहता।

चंद्रगुप्त—आप दोनो का काम तो आनंद मनाना तथा मुझे भी प्रसन्न रखने का है। सांसारिक काम-काजों में विशेष पड़ने से ये सुसौरभित, कोमल कुसुम कुम्हलाने भी लग सकते हैं। यदि आप दोनो भी मुझसे काम-काजू बातें चलाने लगें, तो आनंद कहाँ प्राप्त हो ?

दुर्धरा—हमारा कर्तव्य ही आपको पूर्णानंद-प्रदान है। आशा है, हम दोनो के विभाग में भी कोई त्रुटि न दिखती होगी।

चंद्रगुप्त—ऐसा क्यों होने लगा ? आप दोनो के प्रफुल्लित मुखारविंद देखते ही मुरझाए हुए चित्त में भी तुरंत प्रसन्नता का संचार हो जाता है।

हेलेन—जब तक आर्यपुत्र की ऐसी धारणा है, तभी तक हम लोग अपने कर्तव्य की पूर्ति समझती हैं।

चंद्रगुप्त—आप दोनो के कर्तव्य सदैव पूर्णतया सुपालित रहते हैं।

ये बातें हो ही रही थीं कि कंचुकी ने प्रवेश करके गुरुदेव की अबाई की सूचना दी। चंद्रगुप्त ने सम्राज्ञियों से पूछा कि क्या उनसे बात उसी स्थान पर हो, या कहीं अलग ?

दुर्धरा—यदि कोई दोष न हो, तो यहीं उन्हें भी बुला लीजिए। एक बार हम दोनो भी आपको भारी राज-काज करते हुए देख लें।

चंद्रगुप्त—जैसी इच्छा।

ऐसा कहकर सम्राट् बाहर जाकर गुरुदेव को मान-पूर्वक वहीं लाते हैं। सम्राज्ञियाँ भी प्रणाम करके आशीर्वाद पाती हैं, और सब लोग यथास्थान विराजते हैं।

चंद्रगुप्त—गुरुदेव! आज आपकी दोनो वधू मुझसे यह उपालंभ करती थीं कि मैं समुचित मात्रा में राजकाज नहीं करता।

चाणक्य—मैं ऐसा सुनकर बहुत प्रसन्न हुआ। दोनो पुत्रियाँ महा-पुरुषों की कन्याएँ ठहरीं; राजकाज को मुख्यता क्यों न दें! (सम्राज्ञियों से) बेटियो! ऐसा भ्रम न करो; सम्राट् राजकाज करने में कभी आलस्य नहीं करते, वरन् सदैव उसके लिये सन्नद्ध रहते हैं। आज भी इसीलिये उपस्थित हुआ हूँ।

हेलेन—गुरुदेव! हम दोनो को कोई उपालंभ न था; केवल इतना कहा था कि हम लोग इन्हें काम करते प्रायः नहीं देखतीं।

चाणक्य—आप लोगों का विभाग कार्य-भार न होकर आनंद-वर्द्धन है। आज काम करके भी देख लीजिए।

दुर्धरा—बड़ी कृपा गुरुदेव!

चंद्रगुप्त—कहिए आर्य! क्या आज्ञा है? सुना, शकटदासवाला आपका दाँव विफल हो गया।

चाणक्य—क्या चिंता है वृषल! अभी और युक्तियाँ चल रही हैं। कोई-न-कोई सफल हो ही जायगी। बहुत कुछ काम हो भी गया है।

हेलेन—युद्ध तो आर्य! अभी ढीला चल रहा है।

चाणक्य—यही बात है देवीजी! मैं नहीं चाहता कि भारतीय आपस ही में एक दूसरे का गला काटें। हमारी तलवारें विशेषतया विदेशी शत्रुओं से भारत-रक्षा के निमित्त सन्नद्ध रहनी चाहिए, गृह-कलहार्थ नहीं।

यदि आर्य कात्यायन का प्रबंध बढ़िया न होता, तो क्या हमारा पाटलिपुत्र अलिकसुंदर के आक्रमण से बच जाता ?

हेलेन—गुरुवर ! क्या आप मेरे ही सगोत्रियों के लिये अपना सारा दल सुरक्षित रखते हैं ?

चाणक्य—मैं बेटी ! किसी से विग्रह नहीं चाहता, परंतु आक्रमण-कर्ताओं से भारतीय रक्षा-मात्र का उत्सुक हूँ।

हेलेन—मैं तो गुरुदेव, केवल हँसती थी। आपके विचार बहुत शुद्ध हैं।

चाणक्य—तो वत्स ! काम-काजू बातें चलाऊँ न ?

चंद्रगुप्त—अवश्य, अवश्य।

चाणक्य—मैंने महाबलाधिकृत को आज्ञा दे रक्खी थी कि यथासाध्य कुमार सबलनंद को विना सक्षत किए बंदी बना लें। उन सबों ने आर्य कात्यायन तथा महाराजा विशालाक्षवाले दल-विभागों के सम्मुख विना लड़े ही भड़भड़ पूरा मचाया, उधर सबलनंदवाले दल के सामने कायरता का नाटक दिखलाया। जब-जब उन वीरों ने आक्रमण किया, तभी-तभी अपने योद्धा भाग खड़े हुए। इन बातों से शत्रुओं के साहस बढ़ गए, और आर्य कात्यायन की सम्मति भुलाकर कुमार सबलनंद हमारे सैनिकों का पीछा करते हुए बहुत आगे बढ़ आए, जिस पर हम लोगों ने तीन ओर से घेरकर प्रचंड आक्रमण कर दिया।

चंद्रगुप्त—क्या सबलनंद पकड़ लिया गया ?

चाणक्य—सो तो हुआ ही ! अब वह अपने कारागार में बंदी है। मैंने महाराजा विशालाक्ष तथा महर्षि कात्यायन की सेवा में दूत भेजकर उनसे अपने मिलने के पृथक्-पृथक् स्थान नियत किए हैं। रक्षा का उचित प्रबंध करके अब वहीं जा रहा हूँ।

चंद्रगुप्त—तब तो गुरुदेव ! अर्द्ध-विजय मिल ही चुकी।

चाणक्य—इसी को पूर्ण विजय बनाने जा रहा हूँ। पहले विशाला को धमकाकर पूर्णतया सभय करूँगा। अनंतर उसके डर से दुःखित कात्यायन को सेठ चंदनदास का भी भय दिखलाकर वृषल का महा

दुर्धरा—यदि कोई दोष न हो, तो यहीं उन्हें भी बुला लीजिए। एक बार हम दोनो भी आपको भारी राज-काज करते हुए देख लें।

चंद्रगुप्त—जैसी इच्छा।

ऐसा कहकर सम्राट् बाहर जाकर गुरुदेव को मान-पूर्वक वहीं लाते हैं। सम्राज्ञियाँ भी प्रणाम करके आशीर्वाद पाती हैं, और सब लोग यथास्थान विराजते हैं।

चंद्रगुप्त—गुरुदेव! आज आपकी दोनो वधू मुझसे यह उपालंभ करती थीं कि मैं समुचित मात्रा में राजकाज नहीं करता।

चाणक्य—मैं ऐसा सुनकर बहुत प्रसन्न हुआ। दोनो पुत्रियाँ महा-पुरुषों की कन्याएँ ठहरीं; राजकाज को मुख्यता क्यों न दें! (सम्राज्ञियों से) बेटियो! ऐसा भ्रम न करो; सम्राट् राजकाज करने में कभी आलस्य नहीं करते, वरन् सदैव उसके लिये सन्नद्ध रहते हैं। आज भी इसीलिये उपस्थित हुआ हूँ।

हेलेन—गुरुदेव! हम दोनो को कोई उपालंभ न था; केवल इतना कहा था कि हम लोग इन्हें काम करते प्रायः नहीं देखतीं।

चाणक्य—आप लोगों का विभाग कार्य-भार न होकर आनंद-वर्द्धन है। आज काम करके भी देख लीजिए।

दुर्धरा—बड़ी कृपा गुरुदेव!

चंद्रगुप्त—कहिए आर्य! क्या आज्ञा है? सुना, शकटदासवाला आपका दाँव विफल हो गया।

चाणक्य—क्या चिंता है वृषल! अभी और युक्तियाँ चल रही हैं। कोई-न-कोई सफल हो ही जायगी। बहुत कुछ काम हो भी गया है।

हेलेन—युद्ध तो आर्य! अभी ढीला चल रहा है।

चाणक्य—यही बात है देवीजी! मैं नहीं चाहता कि भारतीय आपस ही में एक दूसरे का गला काटें। हमारी तलवारें विशेषतया विदेशी शत्रुओं से भारत-रक्षा के निमित्त सन्नद्ध रहनी चाहिए, गृह-कलहार्थ नहीं।

यदि आर्य कात्यायन का प्रबंध बढ़िया न होता, तो क्या हमारा पाटलिपुत्र अलिकसुंदर के आक्रमण से बच जाता ?

हेलेन—गुरुवर ! क्या आप मेरे ही सगोत्रियों के लिये अपना सारा दल सुरक्षित रखते हैं ?

चाणक्य—मैं बेटी ! किसी से विग्रह नहीं चाहता, परंतु आक्रमण-कर्ताओं से भारतीय रक्षा-मात्र का उत्सुक हूँ।

हेलेन—मैं तो गुरुदेव, केवल हँसती थी। आपके विचार बहुत शुद्ध हैं।

चाणक्य—तो वत्स ! काम-काजू बातें चलाऊँ न ?

चंद्रगुप्त—अवश्य, अवश्य।

चाणक्य—मैंने महाबलाधिकृत को आज्ञा दे रक्खी थी कि यथासाध्य कुमार सबलनंद को विना सक्षत किए बंदी बना लें। उन सबों ने आर्य कात्यायन तथा महाराजा विशालाक्षवाले दल-विभागों के सम्मुख विना लड़े ही भड़भड़ पूरा मचाया, उधर सबलनंदवाले दल के सामने कायरता का नाटक दिखलाया। जब-जब उन वीरों ने आक्रमण किया, तभी-तभी अपने योद्धा भाग खड़े हुए। इन बातों से शत्रुओं के साहस बढ़ गए, और आर्य कात्यायन की सम्मति भुलाकर कुमार सबलनंद हमारे सैनिकों का पीछा करते हुए बहुत आगे बढ़ आए, जिस पर हम लोगों ने तीन ओर से घेरकर प्रचंड आक्रमण कर दिया।

चंद्रगुप्त—क्या सबलनंद पकड़ लिया गया ?

चाणक्य—सो तो हुआ ही ! अब वह अपने कारागार में बंदी है। मैंने महाराजा विशालाक्ष तथा महर्षि कात्यायन की सेवा में दूत भेजकर उनसे अपने मिलने के पृथक्-पृथक् स्थान नियत किए हैं। रक्षा का उचित प्रबंध करके अब वहीं जा रहा हूँ।

चंद्रगुप्त—तब तो गुरुदेव ! अर्द्ध-विजय मिल ही चुकी।

चाणक्य—इसी को पूर्ण विजय बनाने जा रहा हूँ। पहले विशालाक्ष को धमकाकर पूर्णतया सभय करूँगा। अनंतर उसके डर से दुःखित आर्य कात्यायन को सेठ चंदनदास का भी भय दिखलाकर वृषल का महामंत्री

पद अर्पित करूँगा। विवश होकर स्वीकार करना पड़ेगा।

चंद्रगुप्त—यह क्या आज्ञा हो रही है? मैं आपको किसी का अधीन मंत्री न होने दूँगा। समझ देखिए। इसी भाँति एक दिन और कहा था। आज उससे भी आगे बढ़े जाते हैं।

चाणक्य—मैं सब समझे हुए हूँ। आर्य कात्यायन कौन ऐसे गए-बीते हैं कि मेरा पद ग्रहण कर लें? मंत्रि-मंडल में कोई और पद यथारुचि ले लेंगे।

चंद्रगुप्त—यदि महामंत्रित्व ही स्वीकार कर लें, तो?

चाणक्य—तो मैं ऐसे महात्मा का अधीनस्थ मंत्री होने में भी प्रसन्न रहूँगा, किंतु ऐसा वह कर नहीं सकते।

चंद्रगुप्त—चूकिएगा नहीं गुरुदेव!

चाणक्य—इतने बड़े महर्षि से मैं छल-पूर्ण वार्ता नहीं कर सकता। जो होगा, अच्छा ही होगा। अब मैं जाता हूँ।

सब लोग प्रणाम करते हैं, और आर्य चाणक्य दोनो पर-पक्षवालों से मिलने जाते हैं। समय पर युद्ध-क्षेत्र से दो कोस पर, एक सुरक्षित शिविर में, आर्य चाणक्य अपने एक सेनापति के साथ महाराजा विशालाक्ष से भेंट करते हैं। दोनो में इस प्रकार वार्ता होती है—

महाराजा विशालाक्ष—कहिए आर्य! क्या आज्ञा है?

चाणक्य—युद्ध आपने बहुत प्रबंध-पूर्वक चलाया है। मैं मानता हूँ कि इस के लिये आपके पास पर्याप्त कारण थे; फिर भी इतना समझना चाहिए कि भारतीय रक्षा के लिये इन दिनों यवनों से भी मुठभेड़ हो रही है। ऐसी दशा में आंतरिक रणरंग मचाने से लाभ नहीं हो सकता।

महाराजा विशालाक्ष—ऐसा ठीक मानने में मुझे भी कोई आपत्ति नहीं, किंतु आप ही ने इस उच्च विचार के प्रतिकूल पैर बढ़ाकर अस्सी वर्षों से संस्थापित एक दृढ़ साम्राज्य का अंत किया है। हम लोग इस मामले में दोषी नहीं माने जा सकते।

चाणक्य—सम्राट् चंद्रगुप्त ने निष्कारण ऐसा नहीं किया है। उनके पूज्य पिता का राज्य पहले अनुचित प्रकारेण छीना गया, और तब उन्होंने

पने स्वत्व-रक्षण में ही अस्त्र उठाए। यदि साम्राज्य की ओर से पहले नुचित कार्यवाही न की गई होती, तो ऐसा कभी न होता।

महाराजा विशालाक्ष—सम्राट् धननंद को उनकी ओर से अनुचित ावेश दिलाया गया। यदि उनकी रूपवती और गुणवती कन्या का प्रणय नावश्यक रीत्या अस्वीकार न किया जाता, तो उनको क्रोध कभी न आता।

चाणक्य—राजपुत्री का प्रणय अस्वीकार कभी नहीं हुआ. केवल सकी स्वीकृति में कुछ संकोच-मात्र था, जो स्वयं राजपुत्री के अनुसार ीघ्र शांत हो जाता। उस आत्मीय एवं गुह्य विषय को प्रकट करने तथा स पर अनुचित आज्ञाएँ परम शीघ्रता के साथ देने की भूल गत सम्राट् ी ही ओर से हुई। सम्राट् चंद्रगुप्त तथा मैंने भी कई बार सुनंदादेवी को ौर्य स्वीकृति मानने के लिये समझाया, किंतु उस उच्चाशया राजपुत्री ने पने धार्मिक मार्ग से विचलित होना किसी प्रकार न माना। सुना, आपके ी उदार मंतव्यों को उस कन्या-रत्न ने विनय-पूर्वक अस्वीकार कर दिया। उसके कुछ ही पीछे स्वयं सम्राट् उसे सम्राज्ञी बनाने को बहुत हठ और वेनय के साथ प्रार्थना करते रहे, और उस पूज्या देवी के विवाहार्थ सन्नद्ध न होने पर यों भी सारा साम्राज्य छोड़कर उन्हें सम्राज्ञी बनाते रहे, किंतु उस देवी-मूर्ति भक्त-शिरोमणि ने यह पद भी ग्रहण न किया। इससे बढ़कर औदार्य कोई विजयी सम्राट् और क्या दिखला सकता था?

महाराजा विशालाक्ष—यदि ऐसा वास्तव में हुआ हो, तो बात अवश्य अभूतपूर्व महत्ता-पूर्ण थी।

चाणक्य—यदि मेरे इस कथन में लेश-मात्र संदेह हो, तो स्वयं सुनंदादेवी की साक्षी कहीं दूर नहीं।

महाराजा विशालाक्ष—इसकी कोई आवश्यकता नहीं आर्य! किंतु जब एक बार मैंने स्वयं कुमार सबलनंद के पक्ष में विना उनकी प्रार्थना के अस्त्र उठाए हैं, वरन् स्वयं उन्हीं को सन्नद्ध किया है, तब उस प्रयत्न से वैपरीत्य अब कैसे संभव है?

चाणक्य—आपको समझना चाहिए महाराजा! वह सम्राट् चंद्रगुप्त

की प्रजा थे। हमारी ओर से उनके प्रतिकूल कोई भी कार्यवाही न हुई। ऐसी दशा में राजविद्रोह के अभियोग में वह दंडनीय हैं। आप जानते ही हैं कि इस पाप का फल वध-दंड है। इस समय वह हमारे बंदी हैं, और युद्ध-बंदी न होकर साधारण अभियुक्त हैं। ऐसा तो आपको ज्ञात होगा ही।

महाराजा विशालाक्ष—क्या यह भी कहिएगा ? आर्य ! ऐसा ग़ज़ब न कीजिए।

चाणक्य—राज-नियमों द्वारा दृढ़ मेरे इस कथन में क्या अणु-मात्र संदेह है ? आप चाहें, तो प्रवीण प्राड्विवाकों अथवा अपने महादंडनायक से मंत्र कर लीजिए। आपके मित्र महर्षि कात्यायन स्वयं ऐसे विषयों के पूर्णज्ञ हैं। उनसे भी मंत्रणा कर सकते हैं। मैं शीघ्रता में नहीं हूँ, किंतु यदि हम लोगों की प्रेम-पूर्ण संधि आप सज्जनों से न हुई, तो नियम-पूर्वक अभियोग का निर्णय साम्राज्य के महादंडनायक द्वारा होगा ही, जिसमें किसी ढिलाई की आशा नहीं की जा सकती। अभी संधि की भावी धाराओं में साम्राज्य की ओर से पर्याप्त उदारता का व्यवहार करने को मैं स्वयं प्रस्तुत हूँ, किंतु यदि ऐसे औदार्य के पीछे भी एक असमर्थनीय पक्ष पर आप महानुभावों की ओर से हठवाद का प्रयोग होता रहा, तो समझना चाहिए कि हम लोग भी विवश हो जायँगे। हम नहीं चाहते कि निष्कारण पाप-हीन भारतीयों का महती संख्याओं में विनाश एक असमर्थनीय गृह-कलह के कारण हो। मैं जानता हूँ, आपकी एकमात्र पौत्री उत्तराधिकारिणी कमलाक्षीदेवी का शुभ विवाह कुमार सबलनंद के साथ हो चुका है। यह भी एक भारी कारण है, जिससे मैं स्वयं जीत-जातकर संधि करने आया हूँ। आपके जामाता का नाश हमारे सम्राट् के हाथों हो चुका है। वह नहीं चाहते कि आपका वंश ही नष्ट हो जाय। समझ लीजिए महाराजा ! आपके तथा नवनंदों के, इन दो राजवंशों का भविष्य में विनाश या अस्तित्व अब आप ही महानुभावों के निर्णय पर निर्भर है। विचार कर लीजिए, तथा आर्य कात्यायन का भी मंत्र प्राप्त कर लीजिए। मैं अब भी समझाए देता हूँ कि चैतन्य रहिए देव ! अनुचित भूल अथवा अभिमान न करके दो परमोच्च राजकुलों का भावी

अस्तित्व बचा लीजिए। ऐसा निर्णय कीजिए कि ये दोनों समय के सा फूलें-फलें, अभी से अनस्तित्व के काले और कठोर गर्त में विलीन न हो जायँ वह गर्त आपके सम्मुख मुँह फैलाए खड़ा है। अपनी पौत्री का भावी मु तथा अपने राजवंश का भविष्य बचा लीजिए।

महाराजा विशालाक्ष—आप तो आर्य ! ऐसी भयावह बातें करते हैं, जिनसे रोएँ खड़े हो जाते हैं ! यदि आप इतनी कृपा से मेरे भविष्य पर सम्मति प्रदान करना उचित मानते हैं, तो वह भविष्य भी तो आप ही के हाथ में है। उसी का सुप्रयोग क्यों न कर दीजिए ?

चाणक्य—यही करने तो आया हूँ, किंतु यदि आप सम्राट् के मूलोच्छेदन के यत्न में बने ही रहेंगे, जैसा कि इन दिनों, दो-तीन वर्षों से, कर रहे हैं, तो साम्राज्य ही कृपालु कैसे हो सकेगा ? सांसारिक वास्तविकताओं पर आइए। केवल साहित्यिक प्रार्थनाओं से लोक-परिचालन नहीं होता।

महाराजा विशालाक्ष—तो आपका प्रस्ताव क्या है ? ज्ञात तो हो।

चाणक्य—यद्यपि आपने साम्राज्य के साथ राजविद्रोह-पूर्ण कठोर व्यवहार किया है, जो अब भी पूर्ण बल के साथ चल रहा है, तथापि सारी परिस्थिति पर विचार करके मैंने स्वयं जाकर सम्राट् की सेवा में आपकी ओर से प्रार्थना की। यदि युद्ध छोड़कर आप बंग-विजय से निवृत्त हो जायँ, तथा अपने लौहित्य-मात्र पर संतुष्ट रहें, और आर्य भद्रशाल एवं महर्षि कात्यायन फिर से साम्राज्य-सेवा में पलट आएँ, तो सम्राट् भवदीय पक्षवाले किसी व्यक्ति पर कोप का व्यवहार न करेंगे। जो साम्राज्य का कोष लौहित्य में शेष संचित है, वह पाटलिपुत्र चला आएगा, तथा कुमार सबलनंद को मुक्त करके हम आपकी सेवा में भेज देंगे। भविष्य के लिये आप दोनों को फिर से राजभक्ति की शपथ लेनी होगी। जांगल-देश तथा कलिंग की सेनाएँ अपने-अपने देशों को चली जायँगी। उन पर दंड का कोई प्रयोग न होगा।

महाराजा विशालाक्ष—प्रयोजन यह कि हम सब विना हारे ही पराजय स्वीकार कर लें। एक बार ऐसा मानने के पीछे आपके संधि के नियम कठोर नहीं हैं, किंतु विना लड़े कभी किसी सेना ने कहीं हार मानी है ? आप ही समझ लीजिए।

चाणक्य—समझ तो मैं सब रहा हूँ, किंतु इतना आप भी समझे रहिए कि लड़िएगा किसके लिये ? नवनंद-वंश तो जा चुका। आपके भी कोई रहा नहीं जाता। यदि ढूँढ़-खोजकर कोई अन्य राजा खड़ा किया, तो सम्राट् चंद्रगुप्त ही क्या बुरे हैं ? जीत-जातकर सारा साम्राज्य फेरने को प्रस्तुत होनेवाला यदि कोई अन्य पुरुष आप जानते हों, तो कहिए। मेरे देखने में तो ऐसा कोई कभी आया नहीं। यदि किसी के साथ भी हमारे साम्राज्य में अन्याय-पूर्ण व्यवहार हुआ हो, तो बतला दीजिए। सम्राट् धननंद तक के तीन घोर उपद्रव क्षमा होने के पीछे उन पर अभियोग की कार्यवाही उठाई गई थी। समझ लीजिए देव ! यदि मेरे एक भी कथन में अनौचित्य हो, तो बतलाइए।

महाराजा विशालाक्ष—आप परम प्रवीण महामात्य, भारी विद्वान् एवं अनुभवी पुरुष हैं। वाद में आपसे भला मैं क्या पार पा सकता हूँ ? इतना मानूँगा कि कार्य-साधन के अतिरिक्त आपके कथनों में कठोरता नहीं है। यदि आज्ञा हो, तो आर्य कात्यायन से मंत्र करके तब निश्चित उत्तर दिया जाय।

चाणक्य—इस उचित विचार में भला मैं क्या आपत्ति कर सकता हूँ ?

महाराजा विशालाक्ष—इतना तो आपने अभी बतलाया नहीं कि आर्य कात्यायन तथा भद्रशालजी के पद साम्राज्य में क्या होंगे ?

चाणक्य—यह वार्ता उन्हीं से होगी।

महाराजा विशालाक्ष—जो आज्ञा आर्य !

इस प्रकार आर्य चाणक्य से कथनोपकथन समाप्त करके महाराजा विशालाक्ष ने आर्य भद्रशाल के साथ आर्य कात्यायन से वार्तालाप किया। अपने तथा नवनंद के वंश-नाश के भय ने इन्हें बहुत ही विचलित कर डाला

था, और इन्होंने महर्षि को यह भी समझाया कि कुमार सबलनंद के भावी अस्तित्व पर यदि कोई विचार न भी किया जाय, तो युद्ध चलाने के निमित्त खड़ा किसे करना होगा ? जब सुनंदादेवी अपना धार्मिक जीवन नहीं छोड़तीं, तब इन दोनो राजवंशों में रहा कौन जाता है, जिसका पक्ष लेकर युद्ध चलाया जाय ? यदि इन दोनो राजवंशों के बाहर अधिकारी चुनना हो, तो चंद्रगुप्त ही क्या बुरा होगा ?

इन तर्कों का उत्तर सूझ तो किसी को नहीं पड़ता था, किंतु महर्षि और भद्रशाल अपने सम्राट् के शत्रु का हितेच्छु होना किसी भाँति नहीं चाहते थे। इधर तो महाराजा विशालाक्ष कुल-क्षय के भय से प्रकंपित थे, और उधर वे दोनो मंत्री शत्रु-पक्ष का समर्थन अपने लिये असंभव मान रहे थे। नीति-चक्षु से चाणक्य का कुमार सबलनंद के प्रति राज-विद्रोहात्मक अभियोग समर्थनीय महर्षि भी समझते थे। इन कारणों से वह बड़े ही धर्म-संकट में पड़े हुए थे। बहुत देर तक महाराजा विशालाक्ष, कलिंगपति तथा जांगलेश से मंत्र करने के पीछे विना कोई निर्णय किए ही उन्होंने आर्य चाणक्य से भेंट करने का निश्चय किया। युद्ध-क्षेत्र से कुछ दूर दोनो दलों द्वारा सुरक्षित एक शिविर में आपने आर्य चाणक्य से भेंट की। उस समय पाटलिपुत्र के एक प्रधान सेनापति चाणक्य की ओर उपस्थित थे, तथा महर्षि कात्यायन के साथ महाराजा विशालाक्ष के अतिरिक्त आर्य भद्रशाल भी प्रस्तुत थे। वार्तालाप होने लगा—

कात्यायन—बहुत दिनों के पीछे आपसे मिलकर मैं प्रसन्न हुआ हूँ।

चाणक्य—सबसे पहले मैं आर्य को भक्ति-भाव से प्रणाम करता हूँ। (पैर छूता है।)

कात्यायन—आयुष्मान् भव! आर्य-प्रवर! इस राजनीतिक वार्तालाप में प्रणामादि का यह व्यवहार कुछ अनोखा-सा लगता है, विशेषतया इस कारण कि मंत्रित्व-पद का भार तथा युद्ध का कार्य उठाने के कारण इस काल मैं ब्राह्मण न होकर एक क्षत्रिय-मात्र समझा जा सकता हूँ।

चाणक्य—आर्य तो जगन्मान्य अष्टाध्यायी पर अमूल्य कारिकाकार

के रूप में फिर भी ब्राह्मण हैं, इधर मैं आप ही द्वारा कथित कारणों से सर्वतो-भावेन क्षत्रिय हो रहा हूँ। न-जाने कब से अध्यापन के महत्कार्य को तिलांजलि दे चुका हूँ। यदि आपका-सा एक महर्षि भी मेरे द्वारा प्रणम्य नहीं, तो इतर कौन होगा ? मैं यह भी निवेदन करूँगा कि सम्राट् चंद्रगुप्त ने भी आपकी सेवा में साष्टांग प्रणाम मेरे द्वारा अर्पित किया है।

कात्यायन—शत्रु-पक्ष के एक हठी प्रतिपादक से ऐसा शिष्ट व्यवहार क्या उचित है, अथवा सोचा भी जा सकता था ?

चाणक्य—शत्रुता आर्य से आत्मीय तिल-मात्र नहीं। महर्षि स्वामि-भक्ति की बढ़ी हुई कर्तव्य-परायणता से माने हुए एक धर्म-कार्य में प्रवृत्त हैं। जब विचार-परिवर्तन हो जायगा, तब वह कथित शत्रुता वायुमंडल में विलीन होगी, तथा आर्य का सहज सुंदर, संसार-भर का हितकारी रूप अमिश्र भाव से प्रत्यक्ष हो जायगा। आपके-से महात्मा कभी किसी के शत्रु हो सकते हैं ? वे सारे संसार के शुद्ध मित्र हैं।

कात्यायन—व्यवहार में आर्य ! आप बड़े ही प्रवीण हैं। मैं सम्राट् को चित्त से आशीर्वाद देता हूँ। मैं उन्हें पूर्व से भी भली भाँति जानता हूँ; बड़े ही सज्जन और विनीत महापुरुष हैं। तो भी ये सारी बातें विषयांतर-मात्र हैं। यदि उचित हो, तो अब उस विषय पर वार्तालाप चलाइए, जिसके लिये आपने कष्ट उठाया है।

चाणक्य—सारा आलाप आर्य ! उसी विषय पर चल रहा है। जहाँ तक मेरी बुद्धि काम देती है, अभी तक कोई विषयांतर नहीं है। तो भी महर्षि की आज्ञा से बिनती करता हूँ कि भारतीय शक्तियों में जो गृह-कलह प्राचीन काल से चली आती है, उसी के कारण हमारी शक्ति कभी इतनी न बढ़ी कि हम देशांतरों को पराजित करते। बड़े दुःख के साथ कहना पड़ता है कि इन्हीं दिनों यवन अलिकसुंदर ने बढ़कर हमारे सप्तसिंधु तथा सिंधु-प्रांतों में आतंक जमाया था, जिसे उच्छिन्न करने में सम्राट् चंद्रगुप्त को प्रगाढ़ परि-श्रम करना पड़ा था। यह आर्य से भी छिपा नहीं है। यदि नवनंद-साम्राज्य ने मौर्यों के पिप्पली-काननवाले राज्य पर अनीति-पूर्ण एवं अनधिकार

हस्तक्षेप न किया होता, तो आज भी हम लोग पाटलिपुत्र के प्रतिकूल प्रयत्न न करते, वरन् उसके शुद्ध सहायकों में होते। मेरा भी आत्मीय अपमान धननंद द्वारा आर्य ही के समक्ष हो गया, जिससे मैंने क्रोधावेश में तत्काल प्रतिज्ञा कर डाली, जो आर्य के आशीर्वाद से पूरी हो चुकी है।

अब नवनंदों में तो कोई शेष है नहीं। जो सबलनंद उनके एकमात्र सपिंड शेष हैं, वह नरेशों की पंक्ति से हटकर बंदी हो रहे हैं, तथा उनका भविष्य-वाला जीवन साम्राज्य की दया के अधीन है। मैं पूछता हूँ कि अब आर्य किसके लिये भारतीय कलह में प्रवृत्त रहने का विचार कर रहे हैं? नवनंद तथा लौहित्य के राजवंशों का आगेवाला अस्तित्व जब सम्राट् की कृपा-मात्र पर निर्भर है, तब मौर्याधिकार हटाने के प्रयत्न में आर्य न केवल मौर्यों का, वरन् नवनंदों तथा लौहित्य के भी राजवंशों का मूलोच्छेदन करेंगे। बिनती मेरी यह है कि इन तीन राजकुलों को नष्ट करने में यदि आर्य सफल भी हुए, तो लाखों भारतीयों का विनाश हो ही जायगा। ऐसी दशा में महर्षि किसका लाभ करेंगे, और इससे देश का क्या मंगल होगा?

कात्यायन—इन प्रश्नों का उत्तर सुगम नहीं है। महाराजा विशालाक्ष से आर्य की जो बातें हो चुकी हैं, उनसे निश्चित है कि यदि मैं अब युद्ध चलाना चाहूँ, तो मुझे अन्य सहायक खोजने पड़ेंगे, क्योंकि कुमार सबलनंद को आपने क्या पकड़ पाया, हमारे सारे प्रयत्नों की कुंजी आपके हाथ आ गई। लौहित्य तथा नवनंद-वंश नष्ट करके न तो मैं युद्ध चलाना चाहूँगा, न लौहित्य-नरेश उसके लिये सन्नद्ध हो सकते हैं। ऐसी दशा में विजय तो आपको मिल ही चुकी है। तब एक बात मेरे विचार में नहीं आ रही है कि इस युद्ध के समाप्त होने के अतिरिक्त आर्य मेरे तथा भद्रशालजी के मौर्या-धीन होने पर क्यों हठ कर रहे हैं? आप कुमार को मुक्त कर दीजिए। साम्राज्य की संधि-संबंधिनी अन्य धाराएँ भी हम लोग स्वीकार करते हैं, केवल हम दो व्यक्तियों की आत्मीय सेवा मौर्यों को कैसे मिल सकती है? ऐसी दशा में आपके लिये एक तुच्छ बात पर हठ करने की आवश्यकता नहीं। हम दोनो साम्राज्य के प्रतिकूल कोई अन्य षड्यंत्र रचने के स्थान पर

के रूप में फिर भी ब्राह्मण हैं, इधर मैं आप ही द्वारा कथित कारणों से सर्वतोभावेन क्षत्रिय हो रहा हूँ। न-जाने कब से अध्यापन के महत्कार्य को तिलांजलि दे चुका हूँ। यदि आपका-सा एक महर्षि भी मेरे द्वारा प्रणम्य नहीं, तो इतर कौन होगा ? मैं यह भी निवेदन करूँगा कि सम्राट् चंद्रगुप्त ने भी आपकी सेवा में साष्टांग प्रणाम मेरे द्वारा अर्पित किया है।

कात्यायन—शत्रु-पक्ष के एक हठी प्रतिपादक से ऐसा शिष्ट व्यवहार क्या उचित है, अथवा सोचा भी जा सकता था ?

चाणक्य—शत्रुता आर्य से आत्मीय तिल-मात्र नहीं। महर्षि स्वामिभक्ति की बढ़ी हुई कर्तव्य-परायणता से माने हुए एक धर्म-कार्य में प्रवृत्त हैं। जब विचार-परिवर्तन हो जायगा, तब वह कथित शत्रुता वायुमंडल में विलीन होगी, तथा आर्य का सहज सुंदर, संसार-भर का हितकारी रूप अमिश्र भाव से प्रत्यक्ष हो जायगा। आपके-से महात्मा कभी किसी के शत्रु हो सकते हैं ? वे सारे संसार के शुद्ध मित्र हैं।

कात्यायन—व्यवहार में आर्य ! आप बड़े ही प्रवीण है। मैं सम्राट् को चित्त से आशीर्वाद देता हूँ। मैं उन्हें पूर्व से भी भली भाँति जानता हूँ; बड़े ही सज्जन और विनीत महापुरुष हैं। तो भी ये सारी बातें विषयांतर-मात्र हैं। यदि उचित हो, तो अब उस विषय पर वार्तालाप चलाइए, जिसके लिये आपने कष्ट उठाया है।

चाणक्य—सारा आलाप आर्य ! उसी विषय पर चल रहा है। जहाँ तक मेरी बुद्धि काम देती है, अभी तक कोई विजयांतर नहीं है। तो भी महर्षि की आज्ञा से बिनती करता हूँ कि भारतीय शक्तियों में जो गृह-कलह प्राचीन काल से चली आती है, उसी के कारण हमारी शक्ति कभी इतनी न बढ़ी कि हम देशांतरों को पराजित करते। बड़े दुःख के साथ कहना पड़ता है कि इन्हीं दिनों यवन अलिकसुंदर ने बढ़कर हमारे सप्तसिंधु तथा सिंधु-प्रांतों में आतंक जमाया था, जिसे उच्छिन्न करने में सम्राट् चंद्रगुप्त को प्रगाढ़ परिश्रम करना पड़ा था। यह आर्य से भी छिपा नहीं है। यदि नवनंद-साम्राज्य ने मौर्यों के पिप्पली-काननवाले राज्य पर अनीति-पूर्ण एवं अनधिकार

हस्तक्षेप न किया होता, तो आज भी हम लोग पाटलिपुत्र के प्रतिकूल प्रयत्न न करते, वरन् उसके शुद्ध सहायकों में होते। मेरा भी आत्मीय अपमान धननंद द्वारा आर्य ही के समक्ष हो गया, जिससे मैंने क्रोधावेश में तत्काल प्रतिज्ञा कर डाली, जो आर्य के आशीर्वाद से पूरी हो चुकी है।

अब नवनंदों में तो कोई शेष है नहीं। जो सबलनंद उनके एकमात्र सपिंड शेष हैं, वह नरेशों की पंक्ति से हटकर बंदी हो रहे हैं, तथा उनका भविष्य-वाला जीवन साम्राज्य की दया के अधीन है। मैं पूछता हूँ कि अब आर्य किसके लिये भारतीय कलह में प्रवृत्त रहने का विचार कर रहे हैं? नवनंद तथा लौहित्य के राजवंशों का आगेवाला अस्तित्व जब सम्राट् की कृपा-मात्र पर निर्भर है, तब मौर्याधिकार हटाने के प्रयत्न में आर्य न केवल मौर्यों का, वरन् नवनंदों तथा लौहित्य के भी राजवंशों का मूलोच्छेदन करेंगे। बिनती मेरी यह है कि इन तीन राजकुलों को नष्ट करने में यदि आर्य सफल भी हुए, तो लाखों भारतीयों का विनाश हो ही जायगा। ऐसी दशा में महर्षि किसका लाभ करेंगे, और इससे देश का क्या मंगल होगा?

कात्यायन—इन प्रश्नों का उत्तर सुगम नहीं है। महाराजा विशालाक्ष से आर्य की जो बातें हो चुकी हैं, उनसे निश्चित है कि यदि मैं अब युद्ध चलाना चाहूँ, तो मुझे अन्य सहायक खोजने पड़ेंगे, क्योंकि कुमार सबलनंद को आपने क्या पकड़ पाया, हमारे सारे प्रयत्नों की कुंजी आपके हाथ आ गई। लौहित्य तथा नवनंद-वंश नष्ट करके न तो मैं युद्ध चलाना चाहूँगा, न लौहित्य-नरेश उसके लिये सन्नद्ध हो सकते हैं। ऐसी दशा में विजय तो आपको मिल ही चुकी है। तब एक बात मेरे विचार में नहीं आ रही है कि इस युद्ध के समाप्त होने के अतिरिक्त आर्य मेरे तथा भद्रशालजी के मौर्या-धीन होने पर क्यों हठ कर रहे हैं? आप कुमार को मुक्त कर दीजिए। साम्राज्य की संधि-संबंधिनी अन्य धाराएँ भी हम लोग स्वीकार करते हैं, केवल हम दो व्यक्तियों की आत्मीय सेवा मौर्यों को कैसे मिल सकती है? ऐसी दशा में आपके लिये एक तुच्छ बात पर हठ करने की आवश्यकता नहीं। हम दोनो साम्राज्य के प्रतिकूल कोई अन्य षड्यंत्र रचने के स्थान पर

अब वन जाकर ईश्वरोपासना में समय लगाएँगे। इसमें आपकी कोई हानि भी नहीं है।

चाणक्य—हानि का प्रश्न यहाँ पर न होकर लाभ का है। आर्य पर भली भाँति विदित है कि यवनों का धावा तो विफल हो चुका है, किंतु अपनी गृह-कलह शांत करके वे भारत पर द्वितीय आक्रमण करेंगे अवश्य। ऐसी दशा में परमावश्यक है कि उत्तर भारतीय साम्राज्य योग्यतम मंत्रियों की सहायता से परिचालित हो। हम लोग आर्य तथा आर्य भद्रशाल के विशाल अनुभवों को भारत के लिये किसी दशा में खोना नहीं चाहते। कारिका रचने के कारण आर्य एक साम्राज्य खो चुके हैं, क्या वन-गमन के लालच में दूसरा भी खोइएगा ?

कात्यायन—जब तक आर्य चाणक्य खड्ग-हस्त अथच प्रयत्नशील हैं, तब तक हमारे भारत के लिये ऐसा दैन्य-पूर्ण दिन न आएगा।

चाणक्य—अपनी अयोग्यता का ज्ञान जितना मुझे है, उतना आर्य को नहीं।

कात्यायन—इसमें मतभेद संभव है।

चाणक्य—मैं आर्य से केवल प्रार्थना न करके यह नियम संधि की एक धारा के रूप में सेवा में उपस्थित करता हूँ।

कात्यायन—यदि मैं केवल इसे अस्वीकार कर दूँ ?

चाणक्य—आर्य के विशाल शील से ऐसी रूक्षता की आशा नहीं।

कात्यायन—यह नियम मैं बहुत अनुचित मानता हूँ। आपको एक आत्मीय विषय पर हम दोनो को विवश न करना चाहिए आर्य !

चाणक्य—विवश करता कौन है ? मैं तो चरण-रज स्पर्श करके प्रार्थना-मात्र करता हूँ, किंतु जानता यह भी हूँ कि विना आर्य के खड्ग ग्रहण किए साम्राज्य न तो कुमार का मोचन करेगा, न जगत्सेठ चंदनदास का।

कात्यायन—आप आर्य ! बड़े ही हठी हैं। अच्छा, हम दोनो से आप कार्य क्या लेना चाहते हैं ?

चाणक्य—कुमार को ग्रहण करनेवाले संग्राम में दैव-वश हमारे महा

सेनापति का निधन हो चुका है। सम्राट् यह रिक्त पद आर्य भद्रशाल को अर्पित करते हैं, तथा आर्य साम्राज्य के महामंत्री होंगे?

कात्यायन—(भद्रशाल से) क्यों आर्य! आपकी क्या इच्छा है?

भद्रशाल—जैसी आर्य की आज्ञा हो।

कात्यायन—(महाराज विशालाक्ष से) देव! आपकी क्या आज्ञा है?

महाराजा विशालाक्ष—मेरे कुटुंब के रक्षण का भार आर्य ही पर है। अब कृपा करके आर्य चाणक्य का हठ स्वीकार ही कर लीजिए।

कात्यायन—(चाणक्य से) मैं विवश हो रहा हूँ। कुमार तथा चंदनदासजी के अमंगल से बचने का भार मेरे ऊपर परम अमोघ है। आर्य भद्रशाल की ओर से मैं महाबलाधिकृत का पद स्वीकार करता हूँ। क्या अब स्वयं मुझे आप क्षमा कर सकते हैं?

चाणक्य—विना आर्य की सहायता के साम्राज्य का भविष्यत् मंगल नहीं देखता। मैं भी विवश हो रहा हूँ।

कात्यायन—अच्छा, आपके ऐसे विनीत हठ से मैं भी प्रसन्नता-पूर्वक साम्राज्य का मंत्रित्व स्वीकार करता हूँ, किंतु महामंत्री का पद नहीं। मैं शेष मंत्रिमंडल के कोई भी एकाधिक पद तक आपके इच्छानुसार ग्रहण कर लूँगा, किंतु महामंत्री का पद नहीं। मेरे इतने हठ की रक्षा आपको भी करनी होगी।

चाणक्य—एक महा पुण्यात्मा पुरुष होकर आर्य हठ कैसे कर सकते हैं? हठी होना तो मेरे समान मूर्खों तथा छोटों का काम है, न कि विद्या, बुद्धि और वयो-वृद्ध आर्य के समान महापुरुषों का।

कात्यायन—मैं ऐसा भारी अन्याय करना दृढ़ता-पूर्वक अस्वीकार करता हूँ। जिस महापुरुष ने चुटकी बजाते हुए इतना भारी साम्राज्य उपार्जित कर लिया है, उसे उसके महामात्यवाले विशाल पद से पृथक् करने का गुरु पाप-भार मैं किसी दशा में अपने ऊपर न लूँगा।

चाणक्य—है आर्य के भी कथन में बहुत कुछ सार, किंतु इतना बड़ा महात्मा मुझ लघु से न्यून पद-भोक्ता नहीं हो सकता।

कात्यायन—आपका कथन केवल औचित्य-मूलक है, किंतु मेरा कार्य महामात्य होने का पाप-पूर्ण होगा। भला, मैं पाप कैसे कर सकता हूँ ?

चाणक्य—अब मैं सारी बिनतियाँ कर चुका। सम्राट् आर्य की सम्मति का मान करने का वचन मुझे दे चुके हैं। अब इस विवाद का परिहार यही रहा कि आर्य सम्राट् को उचित सम्मति दे दें, जिसका पालन होगा ही।

कात्यायन—(हँसकर) आपकी प्रवीणता भी बहुत श्लाघ्य है आर्य ! तब यही निर्णय रहा।

इस प्रकार वार्तालाप के पीछे संधि-पत्र पूर्णतया स्वीकार हो गया, तथा कुमार सबलनंद और सेठ चंदनदास मुक्त किए गए। सम्राट् ने आर्य कात्यायन का पूर्ण मान किया। आर्य चाणक्य महर्षि कात्यायन के इच्छानुसार महामंत्री रहे, तथा स्वयं वह विशेष मंत्री के रूप में अक्षपटलाधिकृत अथच अग्रहारिक (दानाध्यक्ष)।

षोडश परिच्छेद

यवन-पराजय और समाप्ति

जिस वर्ष (३२३ बी०सी० में) अलिकसुंदर का देहांत हुआ, उसी साल, २४ वर्ष की अवस्था में, चंद्रगुप्त प्रायः समस्त पंजाब तथा सिंध के नरेश हो गए, और दूसरे ही वर्ष, २५ वर्ष की ही अवस्था में नवनंद-वंश ध्वस्त करके सम्राट्-पद प्राप्त करने में समर्थ हुए। अनंतर तीन-चार वर्षों के भीतर आर्य कात्यायन तथा भद्रशाल को भी अपना सहायक बना सके। इनका राज्य-काल अलिकसुंदर के अंत से ही माना जाता है। उसके छः वर्षों के भीतर यूथेंडेमस भारत से चला गया, और समस्त उत्तरी भारत में एकच्छत्र मौर्य साम्राज्य स्थापित हुआ। महर्षि कात्यायन ने सारे साम्राज्य का दौरा करके धन-संबंधी नवीन प्रबंध किया। राजकर कोई नया बाँधा न गया, किंतु जो लोग प्राचीन दुष्प्रबंध के कारण कर-मुक्त-से थे, उनसे भी कर ग्रहण की ठीक व्यवस्था हुई। इसी भाँति जो लोग बिना किसी उचित कारण के माफ़ी (मंडल), जागीर आदि पाए थे, उन पर साधारण राजकर बाँधा गया, तथा बहुतेरे योग्य, नवीन व्यक्तियों को माफ़ियाँ भी लगीं। सभी सज्जन प्रसन्न हुए, तथा दुर्जनों के अनुचित लाभ समाप्त हो गए। यत्र-तत्र नवीन विद्यालय स्थापित किए गए, अथच प्राचीनों की भी आर्थिक सहायता से उन्नति की गई। इस प्रकार महर्षि कात्यायन ने सारे साम्राज्य में सुव्यवस्था का शुभ प्रचार कर दिया, जिससे साम्राज्य की लोक-प्रियता की पर्याप्त वृद्धि हुई। ऐसा होते हुए भी राजकीय आय प्रायः दूनी हो गई।

इधर आर्य चाणक्य तथा आर्य भद्रशाल ने भी सारे साम्राज्य का मिलित दौरा किया। समुचित रक्षा-योग्य स्थानों पर सैनिक प्रबंध हुए, जिससे साम्राज्य की सीमाएँ दृढ़ हुईं। यत्र-तत्र समाचार-प्रेरक नियत किए गए,

जिससे स्थानीय प्रबंधकों तथा अन्यायी लोगों की अनीतियों के हाल केंद्र में भी ज्ञात होने लगे। ये समाचार-प्रेरक कोई मिथ्या कथन कभी न करते थे। यों तो कोई भी साधारण भारतीय झूठ न बोलता था, और राज्य में चोरी का पूर्णाभाव-सा था। राजकीय आय की वृद्धि होने पर, विशेष प्रबल रक्षा के विचार से, सेना की संख्या भी प्रायः तिगुनी कर दी गई। यवनों के संग्राम से अनुभव हुआ था कि सैनिक रथ-विभाग विशेष उपयोगी न था। अतएव उसे हटाकर साम्राज्य के दल में ६ हज़ार हाथी, तीस सहस्र घुड़-सवार तथा ६ लक्ष पैदल रक्खे गए। कुल मिलाकर इनकी सेना में ६ लक्ष, नब्बे सहस्र युद्धकर्ता थे। इसका प्रबंध ६ समितियों द्वारा होता था।

सड़कों आदि का भी अच्छा प्रबंध किया गया। रथ्या (दस गज़ चौड़ी), रथ-पथ, पशुपथ, महा पशुपथ, क्षुद्र पशुपथ, पण्यवीथी (दूकानों के बीच की सड़क), खरोष्ट्र-पथ, चक्र-पथ, असंपथ (पतली सड़क), पादपथ और वणिक्-पथ आदि सब बनाए गए। राजमार्गों का भी प्रबंध था। गृह विशेषतया लकड़ी के थे, यहाँ तक कि राजप्रासाद की भी यही दशा थी, जिससे पंचघट्यः और दशमूलीसंग्रह का प्रबंध सब कहीं रहता था, तथा चौगैलों आदि पर सहस्रों घट जल-पूर्ण रहते थे। अकाल के समय निर्धनों की रक्षा के लिये काम खोले जाते थे, जिन्हें दुर्गत कार्य कहते थे। सम्मंत्र को स्वामि-वाक्य कहते थे। ६००० बी० सी० से चलने-वाली भारतीय नरेशों की एक प्राचीन नामावली सम्राट् ने एकत्र की थी। सारे भारतीय स्वतंत्र थे, अर्थात् उनमें कोई दास न था। पाटलिपुत्र-पत्तन नौ अर्ध कोस लंबा तथा डेढ़ अर्ध कोस चौड़ा था। उसमें ४६ फाटक तथा ५७२ चतुष्क (बुर्ज) थे।

सम्राट् मल्ल-युद्ध, बैल, मेढ़ा, भैंसा, हाथी आदि की लड़ाई देखना पसंद करते थे। बैलों की दौड़ भी होती थी। मृगया की इन्हें विशेष रुचि थी। आपके राजत्व-काल में विद्या का पर्याप्त मान था। गौतम-धर्म-सूत्र, वशिष्ठ-धर्म-सूत्र, त्रिपिटक, अभिधम्म पिटक का कथावत्थु, भद्रवाहु जन-रचित निर्युक्ति आदि भाष्य-ग्रंथ, स्थूलभद्र के आचारांग सूत्रादि १७ ग्रंथ,

दर्शनशास्त्र के सांख्य, योग तथा लोकायत-ग्रंथ, कात्यायन कृत पाणिनीय अष्टाध्यायी की कारिका, एक लक्ष श्लोकों का एक संग्रह-ग्रंथ, कौटिल्य चाणक्य-कृत अर्थशास्त्र आदि सब इन्हीं के समय में बने। कात्यायन के एक मित्र का उपनाम राक्षस था, और नाम सुबुद्धि शर्मा। मौर्य चंद्रगुप्त को कुछ जैनों ने जैन भी बतलाया है, किंतु जैन यह थे नहीं—इनके पौत्र संप्रति जैन थे, न कि स्वयं यह।

इस प्रकार पूर्ण उत्तमता के साथ मौर्य साम्राज्य चलता रहा। उधर अपने विपक्षियों को पराजित करके सेल्यूकस ने (३१२ बी० सी० में) बैबिलोन का राज्य प्राप्त किया। कहलाते आप शाम (सीरिया)-नरेश थे, किंतु अधिकार इनका ईरान-पर्यंत न्यूनाधिक था। अनंतर छः वर्ष पीछे आपने शाह की उपाधि धारण की। इस अवसर पर जो उत्सव मनाया गया, उसमें सम्मिलित होने के लिये भारत की सम्राज्ञी हेलेन अपने दोनो पुत्रों को लेकर पिता की राजधानी पधारीं। बड़े मान-पूर्वक वहाँ सम्राज्ञी का स्वागत हुआ, तथा पिता ने भी बड़े प्रेम के साथ वार्ता आदि की। एक दिन यह भी चर्चा चलने लगी कि यवनों द्वारा भारतीय आक्रमण का समय भी निकट आ रहा है। इस विषय पर यों वार्तालाप हुआ—

सेल्यूकस—बेटी! तेरी शादी के वक़्त यह तय कर लिया गया था कि इस रिश्तेदारी की वजह से यूनानियों की कोशिश हिंद में सिकंदरी अख़्तियारात फिर से क़ायम करने की न रुकेगी। वही वक़्त अब देख पड़ता है।

हेलेन—अब्बाजान! यह बात तो पहले ही कह दी गई थी, और इसके बाबत मेरे शौहर को भी कोई शिकायत न होगी, लेकिन समझ मुझे ऐसा पड़ता है कि इस कोशिश से हुज़ूर अब्बा का न तो फ़ायदा नज़र आता है, न नेकनामी। खुद अपने ही दामाद की सल्तनत पर फ़ौजकशी में अवामुन्नास में कमोबेश बदनामी की सूरत ज़रूर होगी। अलावा इस ज़ाती सवाल के, जब खुद सिकंदर आज़म नवनंद-सल्तनत से टक्कर लेने में दहशत खा गए, हालाँकि उस वक़्त धननंद की फ़ौज सिर्फ़ २,००,००० थी, तब आजकल की ६,९०,००० फ़ौज का मुक़ाबिला सहज नहीं दिखमूस

ऐसी हालत में, जब उसका इंतिज़ाम चाणक्य, कात्यायन, भद्रशाल वग़ैरह लायक़ वज़रा के ज़ुम्मे है। मुझे इसमें अब्बाजान को तकलीफ़ का सवाल समझ पड़ता है। मुवाफ़ी बख़्शी जाय, ऐसी कोशिश शुरू फ़रमाने के क़ब्ल अपने लायक़ वज़रा के साथ तीन बार सलाह फ़र्मा ली जाय। मुझे इस कोशिश में शक की गुँजाइश काफ़ी समझ पड़ती है।

सेल्यूकस—बेटी! तेरा कहना भी क़ाबिल-ग़ौर ज़रूर है, हालाँकि मुझे इस क़द्र ख़ौफ़ नहीं समझ पड़ता, जितना कि तुझको, ताहम मैं इस मसले पर कमाहक्कहू, ग़ौर करने के बाद कुछ करूँगा, उजलत में नहीं।

इस प्रकार पिता से वार्तालाप करके तथा उचित समय तक वहाँ सुख-पूर्वक रहकर सम्राज्ञी हेलेन भारत पलट आईं। उधर ऊँच-नीच पर भली भाँति विचार करने के पीछे यवनराज सेल्यूकस ने भारत पर आक्रमण करना ही दृढ़ किया। वह एक भारी सेना लेकर खैबर-घाटी पार करके भारत पहुँचा। पाटलिपुत्र के मंत्रिमंडल में बचाव के प्रश्न पर सम्यक्प्रकारेण मत-परिवर्तन हुआ। चाणक्य, कात्यायन तथा भद्रशाल की मान्य सम्मतियों पर सम्राट् ने भी अपने दीर्घकालीन सामरिक अनुभव के अनुसार विचार किया। सब का मत यही हुआ कि सेल्यूकस को व्यास-नदी तथा यमुना भी पार करके गंगा-तट तक आने दिया जाय, और तब प्रचंड सेना से चारों ओर घेरकर उस पर ऐसे घातक आक्रमण हों कि सौ वर्षों के लिये यवनों का भारतीय आक्रमण-संबंधी उत्साह चूर्ण हो जाय। यही किया गया, और जब सेल्यूकस गंगा-तट पर दल-बल-समेत पहुँचा, तब उसने अपने को प्रचंड सेनाओं द्वारा सब ओर से घिरा पाया। उसकी सेना को ऐसी दुरवस्था में युद्ध करने का साहस नितांत न हुआ। उधर सीरिया की ओर भी उसके शत्रुओं ने उपद्रव आरंभ किया। इस प्रकार दोनो ओर से दबकर उसने सम्राट् से संधि की प्रार्थना विना लड़े ही की। संबंध के विचार से भी उसके दल को नितांत नष्ट कर देने की इच्छा सम्राट् की न हुई, और यथासमय संधि स्वीकार हो गई,

सुनंदा—इसके लिये तो सैकड़ों मित्र और हितेच्छु प्रस्तुत हैं।

चंद्रगुप्त—वे सब साम्राज्य के हितेच्छु हैं, और मुझ सम्राट् का भी जी-जान से हित-साधन करेंगे, किंतु मित्रता बात ही और है। यदि दुर्धर्ष-जी होते, तो संभवतः आत्मीय मित्र हो सकते। और कोई ऐसा सहृदय सिवा आपके मुझे ज्ञात नहीं।

सुनंदा—मैं भी प्रस्तुत हूँ ही।

चंद्रगुप्त—कहाँ प्रस्तुत हैं ? आपकी मित्रता दूर से है, निकट से नहीं। मेरे सारे कष्ट दूर करने की कुंजी आप ही के हाथ में है। यदि अब भी कृपा कर सकिए, तो मेरा जीवन फिर से एक बार हरा-भरा हो सकता है। कहिए, क्या आज्ञा है ?

सुनंदा—क्या इतने दिनों पीछे फिर एक बार विवाहेच्छा जाग्रत हुई है ?

चंद्रगुप्त—करूँ, तो क्या करूँ ? बिना आपकी कृपा के अब मैं फिर से हँसता-खेलता हुआ अपना प्राचीन रूप नहीं पकड़ सकता। मैंने बालकपन में आपके प्रेम का अपमान क्या किया, अपने ही सुखी जीवन पर लात मार दी।

सुनंदा—ऐसा दीन बचन मुख से क्यों निकला जाता है ? अब तक आप पूर्णतया सुखी रहे, केवल जब से अंतिम सम्राज्ञी का वियोग हुआ, तभी से आपको न जाने क्या हो गया है ?

चंद्रगुप्त—हो कुछ नहीं गया है; अब भी जैसे का तैसा सुखी जीव हो सकता हूँ, केवल कोई आपका-सा वास्तविक संगी चाहिए।

सुनंदा—मैं तो अब साहित्यिक नियमों के अनुसार भी वृद्धा हो चुकी हूँ। काव्य में पैंतीस वर्ष पार करने पर नायिका वृद्धा मानी जाती है।

चंद्रगुप्त—है तो अब आपका सैंतालीसवाँ वर्ष, किंतु देखने में पैंतीस की भी नहीं लगतीं। आपको कौन-सा मंत्र सिद्ध है ? अपनी सखियों को क्यों न सिखला दिया ?

सुनंदा—सम्राट्-शिरोमणि ! स्वास्थ्य-रक्षा मंत्रादि पर न चलकर भोजन, रहन-सहन, व्यायामादि पर निर्भर है। आप की दोनो सम्राज्ञियाँ

उच्च जीवन की अभ्यासिनी थीं। मैंने उन्हें बहुत समझाया, किंतु वैद्यक के उचित नियमों पर वे अपने जीवन ढाल न सकीं। ऐसा करना है भी बहुत कठिन। कहना न चाहिए, किंतु यदि आप भी स्वयं मेरे शारीरिक उपदेशों पर समुचित ध्यान न देंगे, तो अपना बहुमूल्य जीवन आगे के लिये बहुत अधिक न चल सकेंगे।

चंद्रगुप्त—आप तो प्रगाढ़ मित्र से हृदय-हीन वैद्य हुई जाती हैं। मेरी प्रार्थना यह है कि अब भी कृपा करके मेरा वर्तमान नीरस जीवन एक बार फिर से सरस कर दीजिए।

सुनंदा—क्या इच्छा की जा रही है? सम्राट्! इतने दिनों तक योग-साधन करके क्या यह भी संभव है कि मैं अब सम्राज्ञी बनूँ? वह समय पच्चीस-छब्बीस साल हुए, निकल गया। अब तो मैं सांसारिक जीव न होकर योगिनी-मात्र हूँ।

चंद्रगुप्त—अपने सुखार्थ न करके आपको मेरे उपकारार्थ ऐसा कष्ट उठाना योग्य है, ऐसी विनम्र प्रार्थना है।

सुनंदा—मैं तो संसार के उपकारार्थ चिरकाल से व्रती हो रही हूँ। परोपकार मेरा कर्तव्य ही है, किंतु वह एक व्यक्ति पर सीमित होने से बहुत कुछ संकुचित हो जायगा। ऐसे परोपकार में स्वार्थ भी आप-से-आप निहित रहता है। योगियों का जीवन चिंता-रहित और लंबा होता है। यदि मैंने भी अपनी सम्राज्ञी सखियों की भाँति संसार का सुख भोगा होता, तो अब तक वृद्धा हो गई होती, अथवा उन्हीं की भाँति संभवतः परलोकवासिनी हो चुकती।

चंद्रगुप्त—आपका पुनीत जीवन त्याग से पूर्णतया ओत-प्रोत हो रहा है। अब वह स्वार्थ की गंदली नाली की ओर न जाकर श्रीगंगाजी के समान महावेगवती पुनीत धारा में ही बहेगा। देखता हूँ, मैंने अब तक इस पुनीत धारा को कलुषित करने के अनेकानेक गर्हित प्रयत्न किए हैं। यदि मैं सफल होता, तो यह पुनीतता पातक में परिवर्तित हो जाती। मैं आपको शतशः धन्यवाद देता हूँ कि मेरे द्वारा सैकड़ों परमोच्च प्रलोभन

दिखलाए जाने पर भी आप अपने पुनीत मार्ग से कभी तिल-मात्र विचलित नहीं हुईं। धन्य है आपकी दृढ़ता और आचरण ! आप इस स्वार्थी संसार में देवी होकर अवतीर्ण हुई हैं। अब मुझे भी [illegible]क्षित हो रहा [illegible] संसार में वास्तविक सुख प्राप्ति के प्रयत्नों में न होकर त्याग में है। अ[illegible] साम्राज्य तथा आत्मीय सुखों को छोड़कर अपने को सदैव एकरस [illegible] रक्खा है। इधर मैंने किसी का कुछ अनुचित प्रकारेण छीना तो नहीं, किंतु जो संपदा अथवा पदवी प्राप्त हुई, उसे छोड़ा भी नहीं। तब भी देखता हूँ कि आप कुछ भी न रखकर अपने को सदैव एकरस प्रसन्न रख सकीं। इधर मैं इतना बड़ा साम्राज्य, कई पुत्र-कन्याएँ तथा सैकड़ों मित्र और सच्चे सहायक पाकर भी अपने को प्रसन्न नहीं रख सकता।

सुनंदा—सम्राट्-शिरोमणे ! आज आपको क्या हो गया है ? इतने दिनों से प्रजा-पालन में तत्पर रहकर तथा संसार-भर में किसी को भी अलभ्य सुखों का भोग करके एकाएकी ऐसे अमूल्य जीवन से विरक्त होना क्या आपको शोभा देता है ? सारी प्रजा को सुख-शांति में रखने का जो आपका कर्तव्य है, उससे परान्मुख कैसे हुए जाते हैं ? इतना विशाल सुख-भोग तथा ऐसे पवित्र उत्तरदायित्व को छोड़ने के विचार क्या उपहासास्पद नहीं होंगे ?

चंद्रगुप्त—मेरा प्रजा के प्रति उत्तरदायित्व युवराज के समर्थ हो चुकने से पूरा हो चुका है। रहा आत्मीय सुख, उसे त्याग से यदि श्रेष्ठ समझतीं, तो स्वयं आप ही कैसे उससे विरक्त होतीं ? अब भी कुछ नहीं गया है; या तो आप मेरे मार्ग पर आइए, या मैं आपवाले पर आता हूँ। हम दोनो के मार्ग अब पृथक् नहीं रह सकते। सोच लीजिए, क्या उचित है ? दोनो के लिये अब आप ही को निर्णय करना है। या तो हम दोनो अब साथ ही राजसुख भोगेंगे, या साथ-ही-साथ ईश्वर की शरण होंगे।

सुनंदा—मेरे लिये तो राजसुख का प्रश्न ही नहीं है, किंतु आप इतने दिन ऐसे सुख में रहकर क्या मेरे-से नीरस, त्यागी जीवन से प्रसन्न रह सकेंगे ?

चंद्रगुप्त—एक बार मैंने आपकी मानसिक दृढ़ता पर अविश्वास